विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ४ अप्रैल २००४ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ४

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(तेईसवीं तालिका)

८८०. श्री तुषार के. शिशोदे, उस्मानपुरा, औरंगाबाद (महा.)
८८१. श्री अमर बी. शिशोदे, बीड बाईपास रोड, औरंगाबाद (महा.)
८८२. श्री एकनाथ राव शिंदे, शिवराय, औरंगाबाद (महा.)
८८३. श्री प्रतापराव डी.पाटिल, बावड़ा, इन्दपुर, पूना (महा.)
८८४. श्री बी. एन. भागवते, ढाकेफाल, पैठण, औरंगाबाद (महा.)
८८५. श्री अक्षय एस. शिशोदे, पद्मपुरा, औरंगाबाद (महा.)
८८६. श्री अरुण डी. खरड़, न्यू कवसान, औरंगाबाद (महा.)
८८७. श्री उत्तर जे. सूर्यवंशी, सतारा, औरंगाबाद (महा.)
८८८. श्री तुकाराम वाइ. जाधव, श्री हाउसिंग, औरंगाबाद (महा.)
८८९. श्री बाबासाहेब के. शिशोदे, कोर्ट रोड, औरंगाबाद (महा.)
८९०. श्री एस. के. शर्मा, कॉलेज कैम्पस,सोनीपत (हरि.)
८९१. शिव देवी बालिका विद्यालय, जालन्धर (पंजाब)
८९२. शिव ज्योति पब्लिक हाई स्कूल, जालन्धर (पंजाब)
८९३. श्री धीरज चंद्राकर, अर्जुनी, बलोदा बाजार, रायपुर (छ.ग.)
८९४. श्री हरनारायण साहू, हाथी टिकरा, बनारी, चाम्पा (छ.ग.)
८९५. डॉ. श्यामनारायण शुक्ला, फ्रिमोंट सी.ए. (अमेरिका)
८९६. श्री दादू द्विवेदी, अमरकण्टक, शहडोल (म. प्र.)
८९७. विवेक कु. सुभा पवार, पूसद, सूतगिरनी,यवतमाल (महा.)
८९८. श्री गोविन्दलाल श्रीनिवास पांडिया, कुराणा, नागौर (राज.)
८९९. श्री एस. के. राय, प्रगति नगर, ऋषिपुरम, भोपाल (म.प्र.)
९००. डॉ. श्रीमती नीलम सिंह, अलीगंज, लखनऊ (उ.प्र.)
९०१. श्री अजय सिंहल, अशोक विहार, नई दिल्ली
९०२. स्वामी संवित सुबोध गिरी, शिव मठ, बीकानेर (राज.)
९०३. श्री भगीरथराम देवजी रांडार, गाँधीबाग, नागपुर (महा.)
९०४. श्रीमती सुशीला मित्तल, ३८० दीपाली, पीतमपुरा, दिल्ली
९०५. ए. एस. राठौर, झोटवारा, जयपुर (राज.)
९०६. श्रीमती वर्षा विनोद कवीश्वर, ठाणे पश्चिम (महा.)
९०७. एस.बी.डी.डबल्यू.जी. डिग्री कॉलेज, बीलाल, उना (हि.प्र.)
९०८. श्री देश दीपक वर्मा, कैथोली, जमैथा, जौनपुर (उ.प्र.)
९०९. डॉ. एस. ए. मानकर, अमृतनगर, अकोला (महा.)
९१०. श्री नरेन्द्र कोहली, १७५ वैशाली, पीतमपुरा (दिल्ली)
९११. श्री सत्येन्द्र कुमार सिंह, अंधेरी कुर्ला रोड, मुंबई (महा.)
९१२. श्री धीरेन्द्र सिंह ठाकुर, वनगाँव, दहाणू, ठाणे (महा.)
९१३. श्री जी.एन. मलिक, राजकुमार कॉलेज, रायपुर, (छ.ग.)
९१४. श्री जगदीश प्रसाद साहू, सुन्दरनगर, रायपुर (छ.ग.)
९१५. श्री कार्तिक लाल, महमूरगंज, वाराणसी (उ.प्र.)
९१६. श्री अशोक कुमार, पुनपुन, पटना (बिहार)
९१७. श्री नारायण चन्द्र मलिक, तेलीबाँधा, रायपुर (छ.ग.)
९१८. श्री एच. एल. चौरसिया, गजानन परिसर, दमोह (म.प्र.)
९१९. श्री सुनील अग्रवाल, शिवनगर, जलन्धर (पंजाब)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १८

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

भक्त – महाराज, मनुष्य विषयों में क्यों फँस जाता है?

श्रीरामकृष्ण – उन्हें बिना प्राप्त किये ही विषयों में रहता है, इसलिए। उन्हें प्राप्त कर लेने पर फिर मुग्ध नहीं होता। पतिंगा अगर एक बार उजाला देख लेता है, तो फिर और उसे अन्धकार अच्छा नहीं लगता।

उन्हें पाने की इच्छा रखनेवालों को वीर्य-धारण करना पड़ता है। शुकदेवादि ऊर्ध्वरेता थे। इनका रेतपात कभी नहीं हुआ। एक और है धैर्यरेता। पहले रेतपात हो चुका है – परन्तु इसके बाद से वे वीर्यधारण करने लगे हैं।

इस तरह निकल जाने पर भी जो कुछ रहता है, उसी से काम होता है। अन्त में जो कुछ रहता है वह refine (सार पदार्थ) है। लाहा बाबू के यहाँ राब के घड़े रखे थे। घड़ों के नीचे एक एक छेद करके फिर एक साल बाद जब देखा, तब सब दाने बँध गये थे – मिश्री की तरह। जितना सीरा निकलना था, सब छेद से निकल गया था।

बारह वर्ष तक धैर्यरेता रहने पर विशेष शक्ति पैदा होती है। भीतर एक नयी नाड़ी होती है; उसका नाम है मेधानाड़ी। उस नाड़ी के होने पर सब स्मरण रहता है – आदमी सब जान सकता है।

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH

A Residential Senior Secondary School

RAMAKRISHNA NAGAR, PO · VIDYAPITH

DT. - Deoghar, (Jharkhand) Pin : 814 112

RLY. STATION BAIDYANATHDHAM, E. RLY.

Phone . (06432) - 222413, 223455 & 236854

E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in

Telefax . (06432) 222360

एक निवेदन

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने अप्रैल २००० से वर्ग एकादश एवं द्वादश की पढ़ाई आरम्भ कर दी है। अप्रैल २००० में भर्ती होनेवाले विद्यार्थी यहाँ से उत्तीर्ण हो चुके हैं और इनमें से कई विद्यार्थियों ने विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थानों (जैसे - आई.आई.टी., जी.आई.पी.एम. ई.आर. पांडीचेरी आदि) में प्रवेश पा लिया है। आपको यह जानकर भी अति प्रसन्नता होगी कि हमने इनके लिए "छात्रावास परिसर" का निर्माण कर लिया है, जिसमें एक प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, छात्रावास के लिए एक प्रशासनिक भवन, चार छात्रावास, भोजनालय, अतिथि भवन आदि हैं। शैक्षिक प्रभाग का निर्माण अभी होना है। इसके लिए हम लोगों ने इससे ही लगा हुआ "अरुणालय सह ड्रीमलैंड" नामक भूभाग खरीदा है। हम लोगों का विचार है कि इस भूखण्ड पर विद्यालय का उच्चतर माध्यमिक प्रभाग का निर्माण किया जाय, जो सारी आवश्यक सुविधाओं से युक्त हो, जैसे - क्लास रूप, एक प्रयोगशाला और एक उपकरणों से सुसज्जित आडीटोरियम आदि। इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए लगभग ८४ लाख रुपयों की आवश्यकता है। अतिरिक्त १० लाख रुपये उपस्करों आदि के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार हमारी कुल आवश्यकता ९४ लाख रुपयों की है। निर्माण-कार्य मार्च २००४ के अन्दर ही सम्पन्न करना होगा तथा तदनुसार वर्ग एकादश एव द्वादश का स्थानान्तर किया जा सकेगा।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट "रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर" के नाम से ही भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के तहत आयकर से मुक्त है।

देवघर

दिनांक : २८. २. २००३

स्वामी सुवीरानन्द

सचिव

नीति-शतकम्

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् ।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा ।।१०७ ।।

अन्वयः – हि स्फारस्फुरिततेजसा भास्करेण इव एकेन शूरेण अपि महीतलं पादाक्रान्तं क्रियते ।

भावार्थ – जैसे एक ही सूर्य अपने विस्तीर्ण तेज से पूरी पृथ्वी को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही एक ही शूर-वीर व्यक्ति पूरी पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेता है।

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते
यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ।।१०८।।

अन्वयः – यस्य अङ्गेः अखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति तस्य वह्निः जलायते, जलनिधिः तत्क्षणात् कुल्यायते, मेरुः स्वल्पशिलायते, मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते, व्यालः माल्यगुणायते, विषरसः पीयूषवर्षायते ।

भावार्थ – जिस व्यक्ति को शील या सदाचार सर्वाधिक प्रिय होता है, उसके लिए अग्नि तत्काल जल के समान हो जाती है, समुद्र नदी के समान हो जाता है, मेरु पर्वत एक छोटी-सी चट्टान जैसी हो जाता है, सिंह हिरन जैसा हो जाता है, सर्प माला के समान हो जाता है और विष अमृत-वर्षा के समान हो जाता है।

लज्जागुणौघननीं जननीमिव स्वामत्यन्त-शुद्ध-हृदयामनुवर्तमानाम् ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ।।१०९।।

अन्वयः – सत्यव्रतव्यसनिनः तेजस्विनः असून् अपि सुखं सन्त्यजन्ति, लज्जागुणौघननीं अत्यन्तशुद्धहृदयाम् अनुवर्तमानां स्वां जननीम् इव प्रतिज्ञाम् न पुनः ।

भावार्थ – सत्यव्रत को धारण करनेवाले तेजस्वी लोग सुखपूर्वक अपने प्राणों को त्याग देते हैं, परन्तु लज्जा के गुणों को उत्पन्न करनेवाली, अत्यन्त निर्मल हृदयवाली, अपनी माता के समान रक्षा करनेवाली प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ते।

– भर्तृहरि

श्रीरामकृष्ण-स्तुति

– १ –

(चन्द्रकौंस–कहरवा)

परमहंस भगवान, हमें दो, बस इतना वरदान,
निशिदिन होवे हृदय कमल में, मधुर तुम्हारा ध्यान ।।

चार दिनों का धन–यौवन है, छिछला सारा ही जीवन है,
इस दुनिया में किसी वस्तु का, ना होवे अभिमान ।।

मम प्रारब्ध जहाँ ले जाए, और वहाँ जो भी करवाए,
पर न कभी भूलूँ मैं तुमको, मिटे मोह अज्ञान ।।

अन्त समय हो स्मरण तुम्हारा, नाम सतत अधरों पर प्यारा,
आऊँगा चिरधाम तुम्हारे, तज 'विदेह' तन-म्यान ।।

– २ –

(नन्द–कहरवा)

ठाकुर, हमको ना बिसराना,
दीन–आर्त हम, अज्ञानी जन,
दो पद-कमल-ठिकाना ।।

दीनबन्धु है नाम तुम्हारा,
तव करुणा–पालित जग सारा,
आश्रित जन हैं जनम-जनम के,
दिल की साध मिटाना ।।

जीवन राह कठिन अनजानी,
हम बालक अबोध अज्ञानी,
भटक न जाएँ कहीं बीच में,
बाँह पकड़ ले जाना ।।

कर्म हेतु हम जग में आए,
पर जब वह पूरा हो जाए,
अन्त समय दर्शन 'विदेह' दे,
निज स्वधाम ले जाना ।।

– *विदेह*

आत्मा और ब्रह्म

स्वामी विवेकानन्द

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर अवस्थित सत्य तो वही एकमात्र, अनन्त, नित्यानन्दमय, नित्य शुद्ध, नित्य पूर्ण ब्रह्म है। उसे आत्मा कहते है। वह पुण्यशील, पापी, सुखी, दु:खी, सुन्दर, कुरूप, मनुष्य, पशु – सब में समान रूप से विद्यमान है। वह ज्योतिर्मय है।

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ और अपनी आँखें बन्द करके यदि मैं अपने अस्तित्व – 'मैं', 'मैं', 'मैं' को समझने की चेष्टा करूँ, तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? इस भाव का कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के संघात के सिवा और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है – 'नहीं'। मैं शरीर में रहनेवाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायेगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही।

वेद कहते हैं कि सम्पूर्ण संसार, स्वतंत्रता और परतंत्रता का, मुक्ति एवं बन्धन का मिश्रण है, पर इन सबके माध्यम से स्वतंत्र, अमर, शुद्ध, पूर्ण और पवित्र आत्मा देदीप्यमान है। चूँकि यह स्वतंत्र है, अत: नष्ट नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्यु तो एक परिवर्तन मात्र ही है और कुछ स्थितियों पर निर्भर करती है; यदि वह स्वतंत्र है, तो वह पूर्ण अवश्य होगी, क्योंकि अपूर्णता भी तो एक स्थिति मात्र है और इसलिए वह परतंत्र है। और यह अमर और पूर्ण आत्मा सर्वोच्च ईश्वर से लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र मानव में एक ही होनी चाहिए। उन दोनों के बीच का भेद केवल आत्मा की अभिव्यक्ति के परिमाण का भेद होगा।

ऐसी बात नहीं कि 'आत्मा को ज्ञान होता है', वरन् वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह नहीं कि आत्मा का अस्तित्व है, वरन् वह स्वयं अस्तित्व-स्वरूप है। ऐसी बात नहीं कि आत्मा सुखी हो, क्योंकि आत्मा तो सुखस्वरूप है। जो सुखी होता है, वह उस सुख को किसी दूसरे से प्राप्त करता है – वह अन्य किसी का प्रतिबिम्ब है। जिसको ज्ञान है, उसने अवश्य उस ज्ञान को किसी दूसरे से प्राप्त किया है, वह ज्ञान प्रतिबिम्ब-स्वरूप है। जिसका अस्तित्व सापेक्ष है, उसका वह अस्तित्व दूसरे किसी के अस्तित्व पर निर्भर करता है।

वही वस्तु जो आज हमें विश्व के रूप में दीख रही है, ईश्वर (परब्रह्म) दिखायी देगी और वही ईश्वर, जो इतने दीर्घ काल तक बाहर प्रतीत होता था, अब अन्त:स्थ – अपनी स्वयं की आत्मा के रूप में प्रतीत होगा।

आत्मा में कोई भी विकार नहीं है – वह असीम, पूर्ण, शाश्वत और सच्चिदानन्द है।

आपात-विरोधी सम्प्रदायों के बीच यदि कोई साधारण मत है, तो वह यही है कि आत्मा में पहले से ही महिमा, तेज और पवित्रता वर्तमान हैं। केवल रामानुज के मत में आत्मा कभी कभी संकुचित हो जाती है और कभी कभी विकसित, परन्तु शंकराचार्य के मतानुसार संकोच एवं विकास भ्रम मात्र हैं। इस मतभेद पर ध्यान मत दो। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त चाहे जिस भाव में रहे, वह शक्ति है जरूर। और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास कर सकोगे, उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा।

स्वाधीनता की – मुक्ति की वह भावना, जो हम सबमें हुआ करती है, यह संकेत करती है कि हमारे अन्तराल में, देह-मन से परे और भी कुछ है। हमारी अन्तर्यामी आत्मा स्वरूपत: स्वाधीन है और वही हममें मुक्ति की इच्छा जाग्रत करती है।

प्रत्येक जीवात्मा एक नक्षत्र है और ये सब नक्षत्र ईश्वररूपी उस अनन्त निर्मल नील आकाश में विन्यस्त हैं। वही ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा का मूल स्वरूप है, वही प्रत्येक का यथार्थ स्वरूप और वही प्रत्येक और सबका यथार्थ व्यक्तित्व है। हमारी दृष्टि-सीमा से परे जा चुके, इन जीवात्मा-रूप कुछ नक्षत्रों की खोज से ही धर्म का आरम्भ हुआ और यह खोज तब समाप्त हुई, जब हमने पाया कि उन सबकी अवस्थिति परमात्मा में ही है और हम भी उसी में हैं।

अतएव जान लो कि तुम वही हो और इसी साँचे में अपना जीवन ढालो। जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानकर अपना सारा जीवन उसके अनुसार गठित करता है, वह फिर कभी अन्धकार में मारा मारा नहीं फिरता।

आत्मा के विषय में यह सत्य पहले सुना जाता है। यदि तुमने इसे सुन लिया है, तो इस पर विचार करो। एक बार वह कर लिया है, तो इस पर ध्यान करो। व्यर्थ और निरर्थक तर्क मत करो! एक बार अपने को सन्तुष्ट कर लो कि तुम अनन्त आत्मा हो। यदि यह सत्य है, तो यह कहना मूर्खता है कि तुम शरीर हो। तुम आत्मा हो और उसकी अनुभूति प्राप्त की जानी चाहिए। आत्मा अपने को आत्मा के रूप में देखे। अभी आत्मा अपने को शरीर के रूप में देख रही है। इसका अन्त होना चाहिए। जिस क्षण तुम यह अनुभव करने लगोगे, उसी क्षण तुम मुक्त हो जाओगे।

जिस प्रकार हमें आँख के होने का ज्ञान उसके कार्यों द्वारा ही होता है, उसी प्रकार आत्मा को हम बिना उसके कार्यों के नहीं देख सकते। इसे इन्द्रियगम्य अनुभूति के निम्न स्तर पर नहीं लाया जा सकता। यह विश्व की प्रत्येक वस्तु का आधार है, यद्यपि यह स्वयं आधार-रहित है।

नारी पति के लिए पति से प्रेम नहीं करती, वरन् आत्मा के लिए ही पति से प्रेम करती है; क्योंकि वह आत्मा से प्रेम करती है। स्त्री के लिए कोई स्त्री से प्रेम नहीं करता, बल्कि आत्मा से प्रेम करने के कारण ही स्त्री से प्रेम करता है। कोई सन्तान के लिए सन्तान से प्रेम नहीं करता, किन्तु वह आत्मा से प्रेम करता है, अतः सन्तान से प्रेम करता है। कोई भी धन के लिए धन से प्रेम नहीं करता, किन्तु आत्मा से प्रेम करता है, अतः धन से प्रेम करता है। कोई भी ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण से प्रेम नहीं करता, किन्तु आत्मा से प्रेम करता है, इसलिए ही ब्राह्मण से प्रेम करता है। कोई भी इस जगत् के लिए जगत् से प्रेम नहीं करता, किन्तु वह आत्मा से प्रेम करता है, इसीलिए जगत् उसको प्रिय है। इसी प्रकार कोई भी क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय से प्रेम नहीं करता, वरन् वह आत्मा से प्रेम करता है। कोई देवताओं के लिए देवताओं से प्रेम नहीं करता, वरन् वह आत्मा से प्रेम करता है। अधिक क्या, किसी वस्तु से कोई उस वस्तु के लिए प्रेम नहीं करता, किन्तु उसके भीतर जो आत्मा विद्यमान है, उसके लिए ही वह उस वस्तु से प्रेम करता है। अतः इस आत्मा के सम्बन्ध में श्रवण करना होगा, उस पर मनन करना होगा और ध्यान करना होगा।

भीतर नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मारूपी सिंह विद्यमान है; ध्यान-धारणा करके उसका दर्शन पाते ही माया की दुनिया उड़ जाती है। सभी के भीतर वह समभाव से विद्यमान है। जो जितना साधन-भजन करता है, उसके भीतर की कुण्डलिनी-शक्ति उतनी ही शीघ्र जाग उठती है। वह शक्ति मस्तक में उठते ही दृष्टि खुल जाती है – आत्मदर्शन हो जाता है।

"अज्ञ लोग बिना समझे जिनकी उपासना करते हैं, मैं तुम्हारे समक्ष उन्हीं का उपदेश करता हूँ।"

यह एक अद्वितीय ब्रह्म ही सभी ज्ञात वस्तुओं की अपेक्षा 'ज्ञाततम' है; वही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम सर्वत्र देखते हैं। सभी अपनी आत्मा को जानते हैं, इतना ही नहीं, पशु भी जानता है कि मैं हूँ। हम जो कुछ जानते हैं, सब आत्मा का ही बहिःप्रसारण है, विस्तार-स्वरूप है।

वह सत्यस्वरूप आत्मा इन इन्द्रियों से अत्यन्त परे है। दर्शन-स्पर्शनादि की साधनभूत ये इन्द्रियाँ केवल बाह्य वस्तुओं को ही देखती हैं, लेकिन यह स्वयंभू आत्मा अन्तर्मुख होने पर ही देखी जा सकती है। तुम्हें स्मरण रहना चाहिए कि यहाँ साधक के लिए किस गुण की आवश्यकता है। वह है अपने नेत्रों को अन्तर्मुख कर आत्मा को जानने की अभिलाषा।

"जो असत्-कार्य करनेवाले हैं, जिनका मन शान्त नहीं है, वे इसे कभी नहीं पा सकते। जिनका हृदय पवित्र है, जिनका कार्य पवित्र है और जिनकी इन्द्रियाँ संयत हैं, उन्हीं के समक्ष यह आत्मा प्रकट होती है।"

"इस आत्मा को न कोई अति वाग्मिता से पा सकता है, न बुद्धि-कौशल से और न अधिक शास्त्राध्ययन से।"

यहाँ, वहाँ, मन्दिर में, गिरजाघर में, स्वर्ग में, मर्त्य में, विभिन्न स्थानों में, अनेक उपायों से खोज करने के बाद अन्त में हमने जहाँ से शुरू किया था, चक्कर पूरा करके हम वहीं अर्थात् अपनी आत्मा में ही वापस आ जाते हैं और देखते हैं कि जिसकी हम सारे विश्व में खोज करते फिर रहे थे, जिसके लिए हमने मन्दिरों और गिरजों में जा-जाकर कातर हो प्रार्थनाएँ कीं, आँसू बहाये, जिसको हम सुदूर आकाश में मेघराशि के पीछे छिपा हुआ अव्यक्त और रहस्यमय समझते रहे, वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणों का प्राण है, हमारी देह है, हमारी आत्मा है – तुम्हीं 'मैं' हो, मैं ही 'तुम' हूँ।

ब्रह्म या अन्तिम सत्य

वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्म इस शर्त को पूर्ण करता है, क्योंकि जिस अन्तिम सामान्यीकरण में हम पहुँच सकते हैं, वह ब्रह्म ही हो सकता है। वह गुणातीत है, किन्तु सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप – निरपेक्ष है। मानवीय चेतना की पहुँच जिस अन्तिम सामान्यीकरण तक हो सकती है, वह यही 'सत्' है। 'चित्' सामान्य ज्ञान नहीं, किन्तु उस तत्त्व का मूल है, जो स्वयं को विकास-क्रम के अनुसार प्राणियों तथा मानवों में ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। उस ज्ञान के सार को यदि चेतना से भी परे एक अन्तिम तथ्य कहा जाय, तो भी अनुचित न होगा। ज्ञान का असली आशय यही है और सृष्टि में वस्तुओं के मूलभूत एकत्व के रूप में हम इसी को पाते हैं।

ब्रह्म के या वेदान्त के ईश्वर के बाहर कुछ भी नहीं है – बिल्कुल भी नहीं है। यह सब 'वही' है। विश्व में उसी की सत्ता है। 'वह' स्वयं ही विश्व है। 'तू ही पुरुष है, तू स्त्री ही है, यौवन-मद में विचरण करता हुआ युवा भी तू ही है, पग पग पर लड़खड़ाता हुआ वृद्ध पुरुष भी तू ही है।'

सच्चिदानन्द शब्द का अर्थ है – सत् यानी अस्तित्व, चित् यानी चैतन्य या ज्ञान, और आनन्द यानी प्रेम। ईश्वर के 'सत्' भाव के बारे में भक्त व ज्ञानी में कोई विवाद नहीं। पर ज्ञान-मार्गी ब्रह्म की चित् या चैतन्य सत्ता पर ही अधिक जोर देते हैं और भक्त सदा 'आनन्द' सत्ता पर दृष्टि रखते हैं। पर 'चित्' स्वरूप की अनुभूति होने के साथ ही आनन्द-स्वरूप की भी उपलब्धि हो जाती है, क्योंकि जो चित् है, वही आनन्द है।

कभी कभी हम किसी पदार्थ के आसपास के कुछ व्यापारों के वर्णन द्वारा उसका संकेत देते हैं। ब्रह्म जब सच्चिदानन्द नाम से अभिहीत किया जाता है, तब वस्तुतः उसी अनिर्वचनीय सर्वातीत सत्तारूपी समुद्र के तट मात्र का कुछ संकेत दिया जाता है। हम इसे 'अस्ति' स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि अस्ति कहने से ही उसके विपरीत 'नास्ति' का ज्ञान भी होता है, अतः वह भी सापेक्ष है। कोई भी धारणा या कल्पना व्यर्थ है। हम केवल 'नेति' 'नेति' (यह नहीं, यह नहीं) ही कह सकते हैं, क्योंकि विचार करना भी उसे सीमित कर देना और खो देना है।

ब्रह्म एक होकर भी व्यावहारिक रूप से अनेक रूपों में सामने विद्यमान है। वही नाम तथा रूप व्यवहार के मूल में मौजूद हैं। जिस प्रकार घड़े का नाम-रूप छोड़ देने पर मिट्टी-रूप उसकी वास्तविक सत्ता मात्र ही दीख पड़ती है, इसी प्रकार भ्रम में घट, पट इत्यादि का भी तू विचार करता है तथा उन्हें देखता है। ज्ञान-प्रतिबन्धक यह जो अज्ञान है, जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, उसी को लेकर व्यवहार चल रहा है। स्त्री-पुत्र, देह-मन जो कुछ है, सभी नाम-रूप की सहायता से अज्ञान की सृष्टि में देखने में आते हैं। ज्योंही अज्ञान हट जायेगा, त्योंही ब्रह्म-सत्ता की अनुभूति हो जायेगी।

तू भी वही पूर्ण ब्रह्म है। इसी मुहूर्त में ठीक ठीक अपने को उसी रूप में सोचने पर उस बात की अनुभूति हो सकती है। केवल अनुभूति की ही कमी है। तू जो नौकरी करके स्त्री-पुत्रों के लिए इतना परिश्रम कर रहा है, उसका भी उद्देश्य उस सच्चिदानन्द की प्राप्ति ही है। इस मोह के दाँव-पेंच में पड़कर, मार खा-खाकर धीरे धीरे अपने स्वरूप पर दृष्टि पड़ेगी। वासना है, इसलिए मार खा रहा है और आगे भी खायेगा। बस, इसी प्रकार मार खा-खाकर अपनी ओर दृष्टि पड़ेगी। प्रत्येक व्यक्ति की किसी-न-किसी समय अवश्य ही पड़ेगी। भेद इतना ही है कि किसी की इसी जन्म में और किसी की लाखों जन्मों के बाद पड़ती है।

यह सम्पूर्ण विश्व कभी ब्रह्म में ही था। ब्रह्म से यह मानो निकल आया है और तब से सतत भ्रमण करता हुआ यह पुनः अपने उद्‌गम स्थान पर वापस जाना चाहता है। यह सारा क्रम कुछ ऐसा ही है, जैसे डाइनेमो से बिजली का निकलना और विभिन्न धाराओं से चक्कर काटकर पुनः उसी में चला जाना। आत्मा ब्रह्म से प्रक्षेपित होकर विभिन्न रूपों – वनस्पति तथा पशुलोकों – से होती हुई मनुष्य के रूप में आविर्भूत होती है। मनुष्य ब्रह्म के सबसे अधिक समीप है। वस्तुतः जीवन का सारा संग्राम इसीलिए है कि पुनः आत्मा ब्रह्म में मिल जाय।

जो इन्द्रियों से अतीत है, जो अरूप है, जो रस के अतीत है, जो अविकार्य, अचिन्त्य, अनन्त और अनश्वर है, उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु के मुख से बच जाता है। ❑❑❑

धन्य उसी का जन्म

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

धन्य उसी का जन्म है, उसकी जननी धन्य।
मनसा-वाचा-कर्मणा, जो हरिभक्त अनन्य ॥
चाहे जो हो, भक्ति का है सबको अधिकार।
हुए अजामिल, गीध औ' गणिका भी भव-पार ॥
पंक-पतित कंचन भले, किन्तु न घटता मान।
नीच वंश में भी हुए, हरि के भक्त महान् ॥
बहु विषयों की चाह में, नहीं शान्ति की राह।
मरु-कुरंग-सम मन भ्रमे, मिले अन्त में आह ॥
परमेश्वर के नाम पर, जाने कितने भेद।
जहाँ भेद होंगे वहाँ, क्यों न रहेगा खेद ॥
प्रभु-सा प्रेमी कौन है, प्रभु-सम कौन उदार।
जो सबका ही अन्त में, करता है उद्धार ॥
ध्यान मग्न कर चित्त को, दीपक-शिखा-समान।
प्रभु के पद में ही मिले, सदा शान्ति का स्थान ॥
रूप-रंग-पद-कुल नहीं, नहीं वृत्ति या वेष।
परमेश्वर की प्राप्ति का, साधन प्रेम-विशेष ॥
प्रभु से सच्चा प्रेम कर, यदि चाहे उद्धार।
आज नहीं, तो कल कभी, होगा भव के पार ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ की, जब तक मन में गन्ध।
तब तक जुड़ सकता नहीं, प्रभु से शुचि सम्बन्ध ॥
यही सभी का धर्म है, यही धर्म का सार।
जो अपने प्रतिकूल हो, वह न करो व्यवहार ॥
जिसके मन में जागती, प्रभु से पावन प्रीति।
उसको जीवन में नहीं, होती है भव-भीति ॥

पर उपदेश कुशल बहुतेरे

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

गोस्वामी तुलसीदास जी की एक चौपाई का लोग काफी हवाला देते हैं - "पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" इसका सरल अर्थ है - "दूसरों को उपदेश देने में तो बहुत लोग निपुण होते हैं, पर ऐसे लोग अधिक नहीं जो उपदेश के अनुसार आचरण भी करते हैं।" जिस सन्दर्भ में गोस्वामी जी ने यह बात कही है, वह हम पर भी घटता है। रावण अपने पुत्र मेघनाद का वध सुनकर मूर्छित हो जाता है। जब उसकी मूर्छा टूटती है, तो अपनी स्त्रियों को विलाप करते देखता है। तब रावण जाकर उनको ससार की विनश्वरता का उपदेश देता है। गोस्वामी जी इस सन्दर्भ में वह चौपाई लिखते हैं, जिसकी चर्चा मैंने प्रारम्भ में की।

हम भी दूसरों को उपदेश देने के लिए कदम बढ़ाये रखते हैं, पर अपनी नसीहत का लाभ हम स्वयं नहीं उठा पाते। इस सन्दर्भ में एक घटना याद आती है। भिलाई में वह घटी थी। बच्चों के स्कूल से लौटने का समय हो गया था। इतने में एक ने आकर एक घर में सूचना दी कि उनके यहाँ का लड़का दुर्घटनाग्रस्त हो गया है और दुर्घटना में उसके प्राणपखेरू उड़ गये हैं। पोस्टमार्टम के बाद उसका शव लाया जा रहा है। परिवार पर तो कहर छा गया। माता शोकावेग में मूर्छित हो गयी। होश आने पर छाती पीट-पीटकर रोने लगती। पड़ोसिनें आकर तरह-तरह से समझाने लगीं। कहने लगीं - "बहिन, धीर धरो, अपने दूसरे बच्चों को देखो। भगवान ने दिया था, उसी ने ले लिया" - आदि आदि।

इतने में शव आ गया। लड़के की माँ एकदम उस पर झपट पड़ी। ऊपर की चादर हटाकर वह अपने बच्चे के शव को गोद में लेने ही वाली थी कि एक अचम्भा घट गया। उसने देखा कि लड़का उसका नहीं है, बल्कि पड़ोसिन का है, जो अब तक उसे तरह तरह से समझा रही थी। अब क्या था, दृश्य ही बदल गया। समझाने वाली पड़ोसिन पछाड़ खाकर गिर पड़ी और अब यह माता उसे समझाने लगी।

तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं अपनी बात में आस्था नहीं होती। हम दूसरों के सामने तो बड़ी-बड़ी बातें कह देते हैं, पर जब हमारे सामने एक छोटी-सी बात को कार्य में उतारने का प्रश्न आता है, तो हम मुकर जाते हैं। जैसे, एक बार मैं अस्वस्थ हो गया। वात ने मेरे पैर को अचल बना दिया। चल नहीं पाता था। लोग बिना माँगे 'प्रिस्क्रिप्शन' बताया करते थे। मैं रोग से जितना परेशान नहीं था, उससे अधिक तो इन प्रिस्क्रिप्शन-दाताओं से हो गया। कोई आयुर्वेदिक नुस्खा बताये, तो कोई होमियोपैथिक, कोई एलोपैथिक तो कोई नेचरोपैथिक। मैंने हर प्रिस्क्रिप्शन बताने वाले से पूछा कि उसने क्या स्वयं उस दवा से लाभ उठाया है। पर एक भी ऐसा न मिला, जिसको दवा का खुद का अनुभव रहा हो।

यह हमारी मनोवृत्ति है। यह सहानुभूति प्रकट करने का सबसे सस्ता तरीका है। न टेंट से कुछ जाता है, न इधर उधर जाने में हमारी चप्पल घिसती है। मुँह से बोलकर बस छुट्टी। शायद हमारी इसी मनोवृत्ति को देखकर शायर ने फिकरा कसा होगा - "मुसीबत का एक एक से बयाँ करना, है यह मुसीबत मुसीबत से ज्यादा!"

मुंशी प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'बड़े भाई साहब' में इस मनोवृत्ति का सुन्दर चित्र खींचा है कि कैसे साल-दर-साल फेल होने वाला बड़ा भाई अपने होशियार छोटे भाई को अनावश्यक उपदेश देता रहता है, पतग लड़ाने और कटी पतंग के पीछे दौड़ने के खतरे सुनाता रहता है, और उसी समय जब एक पतंग कटकर गिरती है, तो स्वय उसके पीछे पकड़ने के लिए दौड़ लगा देता है। मतलब यह कि दूसरों को बिना माँगे उपदेश देना न केवल उनका समय बर्बाद करना है वरन् अपना भी। ऐसा करके हम अपने को हल्का बना लेते हैं। यही नहीं, बल्कि कभी कभी हँसी का पात्र भी। हमारे एक परिचित को उनकी इसी आदत के कारण 'उपदेशानन्द' का खिताब ही मिल गया है। लोग उन्हें देखते ही हँसने लगते है और वे यदि कोई गम्भीर बात भी कहें, तो भी उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। इसका दोष स्वय उन पर है।

अतएव हमें ऐसी आदत बनानी चाहिए कि हम वही बोलें, जिसका हमें अनुभव है, अपने को व्यर्थ ज्ञानी या दूसरों से ऊँचा दिखाने की कोशिश न करें, दूसरों की वेदना में केवल शब्द सहानुभूति न प्रकट करें, बल्कि सही अर्थों में उनके कुछ काम आने की चेष्टा करें। इससे हमारे चरित्र का विकास होगा। ❑❑❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके तृतीय प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

रामायण में आप उतना ही मत लीजिए जितना स्थूल रूप से दिखाई देता है। आप भगवान श्रीरामकृष्ण देव की स्मृति से जुड़े इस आश्रम में आते हैं। यहाँ औषधालय है, गोशाला है, ग्रन्थालय है और अन्य सेवाकार्य भी हैं। उनका लाभ लेना उचित ही है और लोगों को उसका लाभ देना, यह आश्रम के सेवाकार्य की भूमिका में है। पर यदि आप मात्र उतने के लिए ही यहाँ आते हैं, तो आपका भाग्य अधूरा है। अस्पताल तो इससे बड़े और अच्छे आपको अन्यत्र भी मिल सकते हैं, गोशालाएँ भी अन्यत्र मिल सकती हैं, और ग्रन्थालय भी, परन्तु इस प्रकार व्यक्ति और समाज की सेवा के साथ साथ लक्ष्य तो यह है कि आपको तत्वज्ञान हो, स्वरूप-ज्ञान हो, इस दिशा में आगे बढ़ें। बहिरंग रूप में 'मानस' का उद्देश्य है श्रीराम के चरित्र का अनुकरण। इसलिए आप श्रीराम के चरित्र को एक राजकुमार के चरित्र के रूप में, राजा के रूप में, एक नेता के चरित्र के रूप में न देखें। श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं और 'मानस' का उद्देश्य मानो यह है कि हम जीवन में श्रीराम के चरित्र में राजनीति का, व्यवहार का, प्रेम का जो आदर्श है, जो बहिरंग स्वरूप है और अन्ततः उनका जो ज्ञेय रूप है, ब्रह्मरूप है, उसे देखकर हम आकृष्ट हों –

राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।
परमानंद परेस पुराना ।। १/११६/८
राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।
सर्ब रहित सब उर पुर बासी ।। १/१२०/६
राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ।। २/९३/७
तात राम नहिं नर भूपाला।
भुवनेश्वर कालहुँ कर काला ।। ५/३९/१
ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
ब्यापक अजित अनादि अनंता ।। ५/३९/२
ब्रह्म सच्चिदानंद धन रघुनायक जहँ भूप ।।७/४७
परमातमा ब्रह्म नर रूपा।
होइहि रघुकुल भूषन भूपा ।। ७/४८/८

रामायण में बारम्बार कहा गया है कि राम ब्रह्म हैं, राम चिन्मय हैं, अविनाशी हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, सच्चिदानन्द परमात्मा हैं। इसका क्या अर्थ हुआ, जरा धीरे धीरे आगे बढ़िए, आप जितना देख-समझ रहे हैं, उतना ही थोड़े ही हैं।

साधना का अर्थ है क्रमिक विकास। आपके इस आश्रम आने का उद्देश्य क्या है? यह ठीक है कि यहाँ अस्पताल है, गोशाला है, पुस्तकालय है, पर क्या इतना ही है? थोड़ा और आगे बढ़िए, ये सब गौण हैं। और मुख्य क्या है? भगवान श्रीरामकृष्ण ने अपने अवतरण द्वारा जिस दिव्य-तत्त्व को प्रगट किया, स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से विश्व को जो अध्यात्म-ज्ञान दिया, वही मुख्य है, वही लक्ष्य है। वैसे ही 'मानस' को भी आप सीधे अर्थ में मत लीजिए। श्रीराम को आप केवल नेतृत्व करनेवाला नेता या आदर्श प्रस्तुत करनेवाला महापुरुष न समझ लीजिए, उनको आप और अन्तरंग अर्थों में देखिए।

यह जो धनुर्भंग का प्रसंग है, दृश्य के रूप में बड़ा सरल लगता है। जनक की कन्या ने उठा लिया, तो जो तोड़ेगा वह उससे अधिक शक्तिशाली होगा। रामलीला में जब धनुष-यज्ञ होता है, तो वह दृश्य बड़ा आकर्षक होता है। उसमें बाँस को चीरकर उसमें कपड़े-कागज लपेटकर एक धनुष बनाकर उसे खूब सजा दिया जाता है। कुछ किशोर वय के लड़के राजा के वेश में बैठ जाते हैं। वह दृश्य कितना अनोखा लगता है! धनुष तोड़ने के लिए एक उठता है, उसके पेट में कपड़ा बाँधकर उसे मोटा बना दिया गया है। वह जाकर धनुष उठाने की चेष्टा में गिर पड़ता है। दर्शक खूब हँसते हैं, बच्चे और बड़े भी हँसते हैं। वह दृश्य उनको बड़ा मनोरंजक प्रतीत होता है। ठीक है मनोरंजन भी रहे। पर धनुष-यज्ञ का अर्थ बड़ा ही गम्भीर है। धनुर्भंग कोई खेल नहीं है। यह केवल पुरुषार्थ की परीक्षा नहीं है। यह तत्वज्ञान की परीक्षा है।

अब विचार करें कि जिस धनुष को केन्द्र बनाकर महाराज जनक ने प्रतिज्ञा की, वह क्या है, कैसा है और उसके टूटने को उन्होंने इतना महत्त्व क्यों दिया? पहले तो उस धनुष का पूजन और फिर उसके टूटने की अभिलाषा क्यों? उन्होंने क्यों चाहा कि कोई इसे तोड़ दे? उनके मन में यह बात क्यों आई? क्या तात्पर्य है इसका? मथुरा का धनुष अहंकार है और यह विदेहनगर का धनुष क्या है? यह भी अहंकार है।

अभिमान की बड़ी निन्दा की जाती है। निन्दा करते हुए कहते हैं कि बड़ा अभिमानी है। कहेंगे कि अभिमानी व्यक्ति तो

नीचे गिरता है। पर यह सही नहीं है। सर्वाधिक उन्नति तो अभिमानी ही करते हैं। अभिमान बुरा है, यह बात दुहराइए मत। अभिमान छोड़ देना चाहिए, अभिमान नहीं करना चाहिए, यह तो कहने-सुनने की बात है। आप विचार करके देखिए – अभिमान ही तो जीव का धर्म है। 'मानस' में आप पढ़ते हैं –

हरष बिषाद ग्यान अग्याना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना।। १/११६/७

अहंकार तो जीव का धर्म है। अभिमान के बिना तो आप अपने जीवन में कोई कार्य ही नहीं कर सकते। बुरे कार्य के ही नहीं, अच्छे कार्य के पीछे भी अभिमान होता है। जैसे आप कोई यज्ञ-पूजा करने बैठते हैं, तो आचार्य या पण्डित कहते हैं कि पहले संकल्प बोला जायेगा। इस संकल्प को यदि आप ध्यान से सुनें, तो आचार्य उसके अन्त में बताते हैं कि इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मैं (अपना नाम लेकर) इस गोत्र का, इस जाति का, इस यज्ञ के लिए संकल्प लेता हूँ' – इस प्रकार अच्छे कार्य भी 'मैं' – अभिमान से ही शुरू होते हैं। अत: जीवन में सफलता का जो पहला केन्द्र है, वह अभिमान ही है। अभिमान को बुरा कहने से क्या होगा, बुरा लगे तब न! पहले तो आप सारे विश्व के इतिहास को पढ़िए। **जो देश जितना अभिमानी होता है, उतनी ही उन्नति करता है।**

इसका अभिप्राय यह है कि आपके जीवन में 'मैं' हो और उस 'मैं' से यदि आपने कोई संकल्प लिया, उस 'मैं' से प्रेरणा लेकर आपने कर्म किया, तब तो आप अवश्य सफल होंगे। रावण से बढ़कर अहंकारी कौन था? अब विकास की परिभाषा अगर यही है जो आँकड़ों में सुनाये जाते हैं, तो तुलना करके देख लीजिए, रामायण में पढ़ लीजिए – विकास लंका में अधिक था या अयोध्या में? विकास अयोध्या की अपेक्षा लंका में अधिक दिखाई देता है। यह मत मान लीजिए कि निरभिमानी व्यक्ति की उन्नति होती है। उन्नति तो अभिमानी व्यक्ति की होती है। पर उन्नति किस दिशा में होती है और अन्त में उसकी निन्दा तथा उसके त्याग की बात क्यों कही जाती है, यह एक अलग दृष्टिकोण है। पर मूलत: तो आप हर प्रसंग में पहले अपने 'मैं' को ही सुदृढ़ करते हैं। ब्रह्मचारी को जब यह कहा जाता है कि तुम इस बात को मत भूलो कि मैं ब्रह्मचारी हूँ, तो इस 'मैं' के बिना वह ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कैसे करेगा? तो आप जहाँ हैं वहाँ तो प्रारम्भ में आप परिचय देंगे तो यही कहकर देंगे कि 'मैं' ये हूँ। सबसे अधिक प्रचलित शब्द तो यह 'मैं' ही है। पर इस 'मैं' की कक्षाएँ हैं और 'मैं' की ये कक्षाएँ व्यक्ति को क्रमश: उन्नत बनाती हैं। युधिष्ठिर की तुलना में दुर्योधन की उन्नति क्या कम थी? अयोध्या और लंका के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं? क्या लंका में दरिद्रता थी। लंका में जितनी उन्नति थी, उतनी अयोध्या में नहीं थी। पर लंका में किस बात की उन्नति हो रही है? बोले –

सुख संपति सुत सेन सहाई।
जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई।।
नित नूतन सब बाढ़त जाई।
जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।। १/१८०/१-२

लंका में इन वस्तुओं की दिन प्रतिदिन उन्नति हो रही है। तो फिर बचा क्या? अयोध्या में भी उन्नति है, पर लंका जैसी नहीं है। आप इसी से समझ लीजिए कि अयोध्या-नरेश के पास कोई हवाई विमान नहीं था, पर लंका में रावण के पास पुष्पक-विमान था। वस्तुत: यह जो बहिरंग अभिमान है, वह पुष्ट हो, तो व्यक्ति में एक दृढ़ता आती है और वह किसी एक दिशा में बद्ध-परिकर होकर कार्य करता है।

पर इसमें भी एक क्रमिक विकास है। अहंकार के भी कई स्तर हैं, कक्षाएँ हैं, उच्च से उच्चतर अवस्थाएँ आती हैं। यह धनुष क्या है? अहंकार है। यह भी अहंकार है और कंस का धनुष भी, पर एक अन्तर है। यह शंकर जी का धनुष है। भगवान शंकर कौन हैं? – मूर्तिमान अहंकार हैं। चौंकिए मत, यह निन्दा नहीं है। गोस्वामी कहते हैं – शिव अहंकार हैं –

अहंकार सिव बुद्धि अज
मन ससि चित्त महान। ६/१५क

इसी में वह रहस्य छिपा हुआ है। एक अहंकार कंस का है, व्यक्ति का है और हम सब का है; और एक अहंकार है शिव का। शिव जी का अहंकार कल्याणकारी है, शुभ है। जनक जी उसकी पूजा करते हैं।

जरा कल्पना कीजिए, डाकुओं में कितना साहस होता है! उनके सामने गाँव के लोग नहीं टिक पाते, उनमें उतना साहस नहीं होता। दस डाकू आते है और पूरे गाँव के लोग उनसे लड़ने का साहस नहीं कर पाते, क्योंकि डाकुओं का अहंकार इतना प्रबल होता है कि गाँववाले बेचारे डर के मारे काँपते हैं। यह भी अहंकार का एक रूप है। **अहंकार सबमें होता है, वह तो मानवीय स्वभाव है।** जीव का स्वभाव है, उसकी बाध्यता है, अहंकार तो व्यक्ति में होता ही है, पर धीरे धीरे उसमें परिवर्तन आता है, वह अकल्याण से कल्याण की दिशा में बढ़ता है। उसमें क्रमश: विकास होता है, उसका सदुपयोग होता है। अब विकास की परिभाषा क्या है? उसका अर्थ क्या है? कहा गया कि भगवान राम जब धनुष तोड़ने के लिए उठकर खड़े हुए, तो सन्त विकसित हो गये। अब विकास की परिभाषा – यदि वही लंका के विकासवाली परिभाषा है, तो जाने दीजिए। हमारे लिए तो विकास का अर्थ है आध्यात्मिक विकास। और वह यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। पहले हम अपने अभिमान की वर्तमान अवस्था का सदुपयोग कर लें और तब उसमें जो कमी है, जो दोष है, उससे अलग होकर धीरे धीरे कल्याणकारी दिशा में आगे बढ़ने की चेष्टा करें।

रामायण में पात्रों पर जरा विचार करके देखिए। सुग्रीव

अभिमान-रहित है और बालि महान् अहंकारी है। रामायण में रावण के समान अगर कोई अहंकारी है, तो वह बालि है। सुग्रीव तो बेचारे भागते फिरते थे और बालि अति अभिमानी है। मायावी राक्षस ने सोचा कि ये बन्दर रात के समय कमजोर पड़ जाते हैं, इसलिए इसी समय इसे चुनौती देनी चाहिए। रात में तो वह निकलेगा नहीं, तो हम कह देंगे कि रावण को हरानेवाले बालि को हमने हरा दिया। पर हुआ क्या? सुग्रीव ने अपनी आत्मकथा सुनाते हुए भगवान राम को बताया –

मयसुत मायावी तेहि नाऊँ।
आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ ।।
अर्धराति पुर द्वार पुकारा।
बाली रिपु बल सहै न पारा ।। ४/६/२-३

मायावी की चुनौती को बालि सह नहीं सका और वह रात में भी बाहर निकल आया। उसका अभिमान इतना प्रबल है कि निश्चय कर लिया कि रात के अँधेरे में भी मैं इसको परास्त कर दूँगा। और सचमुच परास्त कर दिया। सुग्रीव निरभिमानी हैं और बालि अभिमानी। वैसे ही विभीषण निरभिमानी हैं और रावण अभिमानी। भौतिक दृष्टि से विकास की जो परिभाषा है और जो बालि और रावण के जीवन में दिखाई देता है, वह सुग्रीव और विभीषण के जीवन में दिखाई नहीं देता।

अहंकार के प्रकट होने पर जो समस्या प्रकट होती है, उसी का चित्र यहाँ धनुष-यज्ञ में प्रस्तुत किया गया है। सीताजी साक्षात् महा-शक्तिरूपा हैं। ऐसा भला कौन है, जिसमें शक्ति को पाने की आकांक्षा न हो। अभिमानी व्यक्ति यही तो चाहता है कि शक्ति पर, सत्ता पर हमारा अधिकार हो जाय। उसे पाने के लिए वह पौरुष और पुरुषार्थ का उपयोग करता है। पर अभिमान में तो एक समस्या जुड़ी हुई है। अभिमान में झगड़ा जरूर बढ़ेगा। झगड़ा इसलिए बढ़ेगा कि प्रत्येक अभिमानी केवल अपनी सफलता चाहेगा और सफल होने पर वह उतने से ही नहीं रुक जाता, वह दूसरों की सफलता को नष्ट करना चाहता है। इस धनुष-यज्ञ में जो राजा आए हैं, वे सभी शक्तिरूपा सीता को पाना चाहते हैं, और अपना व्यक्तिगत अहंकार लेकर आए हुए हैं। कितनी विडम्बना है, एक एक करके उठते हैं, धनुष को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। होड़ लगी है। धनुष तोड़ने के लिए जाते हुए स्तोत्रपाठ भी करते हैं। ये जितने स्तोत्रपाठी होते हैं, वे कोई भक्त ही नहीं होते। यह भ्रम नहीं पाल लेना चाहिए कि हम रोज स्तोत्र पाठ करते हैं तो भक्त हैं। देखिए एक राजा उठता है धनुष तोड़ने के लिए। वह शंकर जी का भक्त है। कहता है – शंकर जी आपका धनुष है। इतने दिनों से आपका स्तोत्रपाठ कर रहा हूँ, उसके फलस्वरूप आप आज धनुष तुड़वा दीजिए।

शंकर जी से प्रार्थना की गई, पर धनुष नहीं टूटा। नहीं टूटने के बाद वे कोई शान्त थोड़े ही हो जाते हैं। शंकर जी से कहते हैं – महाराज, आपने मुझसे नहीं तुड़वाया तो न सही, पर इतनी कृपा अवश्य कर दीजिए कि अब यह किसी से भी न टूटे। बस यही है अहम्। सफलता मिले तो हमें मिले, बगल वाले को न मिले, दूसरे को न मिले। यह धनुष-यज्ञ तो संसार में चलता ही रहता है। घर में चल रहा है, परिवार में चल रहा है और समाज में भी चल रहा है। हर व्यक्ति यही तो चिन्ता कर रहा है कि उन्नति मेरी हो, दूसरे की न हो। दूसरे की न हो, तो इतने से ही बड़ा सन्तोष है।

पर सबसे बड़ा व्यंग्य क्या है? जब किसी से नहीं टूटा तो दस हजार मिल भी गये। मिल गये, तो भी झगड़े की योजना थी। पूछा गया कि मान लो, दस हजार मिलकर तोड़ दोगे, तो विवाह तो एक से होना है, दस हजार क्यों तोड़ रहे हो? तो सबके मन में विचार है, पर बता नहीं रहा है। क्या विचार है? बोले – दस हजार राजाओं में एक तो मैं हूँ, बाकी सब तो शून्य हैं। विवाह तो केवल मेरा होगा। – कैसे होगा? बोले – युद्ध होगा। – युद्ध के बाद क्या होगा? – एक जो बचेगा उसका विवाह होगा। पहले नौ सौ निन्यानबे का सिर कटेगा तब किसी एक के गले में जयमाला पहनायी जायेगी। हमारी यही वृत्ति बन गई है। हम हर परिस्थिति में अपने को ही सफल देखना चाहते हैं।

आगे चलकर स्थिति और भी व्यंग्यात्मक हो जाती है। धनुष टूटने के बाद परशुराम जी आकर पूछते हैं – अरे मूर्ख जनक, 'धनुष किसने तोड़ा; बताओ, मैं उसका सिर काट लूँगा। राजा पहले तो अपने अपने इष्टदेव से रुष्ट हो गये थे कि इतने दिनों तक पूजा किया पर धनुष मुझसे न तुड़वाकर एक अन्य राजकुमार से तुड़वा दिया। इसने ज्यादा पूजा की थी क्या? परन्तु जब परशुराम जी ने कहा कि धनुष तोड़नेवाले का सिर काट लूँगा, तो तत्काल फिर से भक्त बन गये कि बड़ी कृपा की जो मुझसे धनुष नहीं तुड़वाया, नहीं तो आज सिर ही कट जाता ! कितनी अच्छी बात हो गई !

हम लोगों के विचार बदलते रहते है। यही अभिमान है – टकराओ, लड़ो, एक दूसरे को हराओ, मन में विद्वेष और विरोध बना रहे। यही है **तमोगुणी अभिमान**। यह दूसरों को गिराकर, दूसरों को मिटाकर उन्नति करना चाहता है, पर इस तमोगुणी अभिमान की समस्या यही है कि जब उससे बड़ा कोई अभिमानी आ जाता है तो वह उसे परास्त कर देता है।

यह तमोगुणी अभिमान भले ही उन्नति में सहायक है, पर उसके द्वारा दूसरों को कष्ट दिए बिना, दूसरों को नष्ट किए बिना उन्नति नहीं होती और ऐसे अभिमानियों के बीच सदा टकराव होते रहते हैं, पता नहीं कब कौन किसका सिर काट ले। इस तमोगुणी अभिमान की अपेक्षा **रजोगुणी अभिमान** ज्यादा अच्छा है। रजोगुणी अभिमानवाला व्यक्ति कहता है – ठीक है, हम अच्छा कार्य करेंगे, सत्कर्म करेंगे, ताकि लोगों

को लगे कि ये बड़े अच्छे व्यक्ति हैं। रजोगुणी व्यक्ति में भी उन्नति की, विकास की इच्छा है, बड़ा बनने की इच्छा है, पर दूसरो को गिराकर या मारकर नहीं। रजोगुण की वृत्ति है अन्य सब की अपेक्षा श्रेष्ठ कार्य करके, अधिक श्रम करके उन्नति करने की। रजोगुणी चाहता है कि लोग हमें बड़ा माने, श्रेष्ठ माने, हमारी प्रशंसा करें। यह रजोगुणी अभिमान भी उपयोगी है, क्योंकि इसके द्वारा आप श्रेष्ठ कार्य करेंगे, दान करेंगे, परोपकार करेंगे, वस्तुओं को आप अच्छे कार्यों में लगाएँगे।

तमोगुणी व्यक्ति में धीरे धीरे परिवर्तन होकर जब उसमें यह रजोगुणी वृत्ति आ जाती है, तब उसका अभिमान भी रजोगुणी अभिमान की कक्षा में आ जाता है। अभिमान की यह कल्याण की दिशा में उन्नति है। तब व्यक्ति का नाम होता है, अभिनन्दन होता है, अखबारों में नाम और चित्र छपता है, जयजयकार होती है, समाज में सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है।

लेकिन वहाँ पर और जो एक दूसरा अहंकार है, वह समस्या पैदा कर देता है। अब रजोगुणी रजोगुणी में अन्तर होता ही है। एक रजोगुणी यदि दान देता है, तो दूसरा भी देता है। मुझे स्मरण आता है, एक नगर में जब मैं पहली बार गया, तो वहाँ के आयोजकों ने घोषणा की कि कल जो पूजा होगी, उसमें लोग जो चढ़ावा लेकर आते हैं, दक्षिणा भेंट करते हैं, उसे देनेवाले का नाम लेकर घोषित किया जायगा कि किसने कितने रुपए चढ़ाए। मैं तो बड़ा हैरान हुआ। मैंने कहा, "यह तो बड़ी अभद्र बात है। कोई श्रद्धा-भक्ति से जो कुछ भेंट कर गया, अब इसकी क्या आवश्यकता कि उसका नाम लेकर बताया जाय कि किसने कितना दिया? ऐसा तो नहीं होना चाहिए।" उन्होंने कहा – महाराज, नाम तो लेना जरूरी है। – क्यों? बोले – "बिना नाम लिए जोश कैसे आएगा? एक व्यक्ति का पाँच सौ सुनेगा तो दूसरा कहेगा, हम हजार देंगे। अत: रोकिए मत।" मैने कहा – "मैं तो रोकूँगा। यह परम्परा रामायण के अनुकूल नहीं लग रही है।" अत: रजोगुण में होड़ है और अच्छा काम भी है, दान है, यज्ञ है, रामायण-भागवत का आयोजन भी है। सब है, पर सबके पीछे है रजोगुणी अभिमान। यह तमोगुणी अभिमान से श्रेष्ठ है।

रजोगुणी अभिमान से श्रेष्ठ है सतोगुणी अभिमान। व्यक्ति जब रजोगुण से धीरे धीरे ऊपर उठता है, तब वह सात्त्विक अभिमान से प्रेरित होकर तपस्या, साधना तथा प्रभु की प्रसन्नता हेतु जो सत्कर्म करता है, उसके लिए भी तो संकल्प करता है – मै इतना जप करूँगा, इतना पाठ करूँगा, इतना व्रत करूँगा आदि। वहाँ भी संकल्प के पीछे अभिमान है, पर वह सात्त्विक अभिमान है और साधना तथा सत्कर्म में सहायक है। रामायण में इन तीनों ही प्रकार के अभिमान के प्रतीक विद्यमान हैं। **रावण तमोगुणी अभिमान का प्रतीक है**। वह सर्वत्र यज्ञ नष्ट करता है, दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, स्त्रियों का अपहरण करके अपने महल में ले जाता है, पूरे संसार का स्वर्ण लंका में एकत्र कर लेता है। इसीलिए हनुमान जी जब लंका में गये तो उन्होंने रावण से यही कहा – मैं आपसे यह तो नहीं कहूँगा कि आप अभिमान छोड़ दीजिए, वह आपके लिए असम्भव है, पर कम-से-कम इतना तो कीजिए, यहाँ से प्रारम्भ कीजिए –

मोहमूल बहु सूलप्रद
त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

इस तमोगुणी अभिमान को छोड़ दीजिए। रजोगुणी अभिमान रखकर राज्य चलाइए। आप राजा हैं, राजा के रूप में आपको शासन चलाना है। रजोगुणी अभिमान रहे, तो ठीक है। आप पूजा-पाठ करते हैं, तो यह नहीं कहूँगा कि सतोगुणी अभिमान मत करिए, उसे भी रखिए, उसके द्वारा वेदपाठ भी करिए और यज्ञ भी करिए। बस तमोगुणी अभिमान छोड़ दीजिए।

अब सत्त्वगुण की बात ले लीजिए। यहाँ बड़ी सावधानी की जरूरत है। कभी कभी उसका गलत अर्थ ले लिया जाता है। धनुष टूटने के बाद परशुराम जी आ गये। पूछा – धनुष किसने तोड़ा? सात्त्विक अहंकार भी तो आखिर अहंकार ही है। अन्तत: उसे भी तो टूटना ही है, यह जो भगवान राम और परशुराम का संवाद है, यह सात्त्विक अहंकार से भी ऊपर की स्थिति है। शिव के धनुष का क्या अर्थ है? भगवान शिव समष्टि अहंकार हैं, द्वैतमूलक अहंकार नही, विराट् ब्रह्म के, अद्वैत के अहं हैं। जिसमें त्वम् और अहम् का द्वैत नहीं है, वही शिव का धनुष है। यही अभिमान सर्वश्रेष्ठ है और इसी के द्वारा भगवान शंकर ने त्रिपुरासुर का वध किया था। यह अभिमान परम कल्याणकारी है। पर अन्त में? कोई कक्षा विद्यार्थी को कितना भी प्रिय क्यों न हो, सब समाप्त होने पर उस कक्षा को छोड़कर अगली कक्षा में जाना पड़ता है। कोई यदि यह कहे कि मुझे इस कक्षा से इतनी निष्ठा है, इतना प्रेम है कि दस वर्षो से यहीं हूँ, इसे छोड़कर अन्य किसी कक्षा में नहीं गया, तो ऐसी निष्ठा और प्रेम कोई बहुत प्रसन्नता की बात नहीं है। अरे, कुछ आगे भी तो बढ़िए।

अत: तमोगुणी अभिमान को छोड़ रजोगुणी अभिमान में आइए। रजोगुणी अभिमान से आगे बढ़कर सतोगुणी अभिमान में आइए और अन्त में उस सतोगुणी अभिमान से भी पार हो जाइए। शंकर जी ने वह धनुष महाराज जनक को दे दिया। ऐसा महान् अभिमान, जिसके द्वारा त्रिपुरासुर का संहार हुआ, उसका भी उन्होंने त्याग कर दिया। इस प्रकार त्याग करते हुए धीरे धीरे वह स्थिति आती है, जिसे भगवान कहते हैं –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। गी. २/४५

वेद भी त्रिगुण की सीमा में ही है, तुम इन तीनों से ऊपर उठो। इसका अभिप्राय यह है कि जब साधक के अन्त:करण का इतना विकास हो जाता है, तब विकास की परिभाषा केवल बाहरी उन्नति नही रह जाती, तब वह समझता है कि भगवान

को पाने के लिए अभिमान का लेश मात्र भी बाधक है। संसार में तो अभिमान की पूजा चलती ही रहती है, अभिमान की ही सारी लड़ाई है, पर भगवान को अभिमान प्रिय नहीं है –

बेद पुरान कहैं, जगु जान,
गुमान गोबिन्दहि भावत नाहीं । कविता. १३२

इसलिए भगवान जिससे प्रेम करते है, उसके अभिमान को नष्ट कर देते हैं। अभिमान क्या है? गोस्वामी जी कहते हैं –

संसृतमूल सूलप्रद नाना ।
सकल सोक दायक अभिमाना ।। ७४/६

भगवान किसका अभिमान नष्ट करते हैं? जो भगवान का भक्त होता है, उसमें यदि अभिमान दिखाई देता है, तो उसे वे दूर कर देते हैं। जैसे किसी बालक के सिर में फोड़ा हो जाने पर सर्वाधिक चिन्ता माँ को होती है कि किसी तरह से यह फोड़ा फूटे। वैसे ही जब भगवान देखते हैं कि अरे मेरे भक्त के हृदय में अभिमान आ रहा है, तो वे उसके अभिमान को रहने नहीं देते। जो उनका अपना है, उनमें अभिमान रहे, यह उनके लिए असह्य है। वे कहते हैं – जब तीनों अहंकारों को नष्ट करके, उनसे मुक्त होकर जब मेरे बन ही गए, तो उसे पूरी तरह से मुझे अर्पित करके मुझसे एकाकार हो जाओ –

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ ।
जन अभिमान न राखहिं काऊ ।। ७/७४/५

भगवान के लिए जो महानतम स्थिति है, यह त्रिगुण से ऊपर है। त्रिगुण से ऊपर उठने की बात यहाँ पर आती है। महाराज जनक महान् ज्ञानी हैं। ज्ञान का अर्थ है – मानो आप बड़ा बनने के लिए कुछ-न-कुछ माने बैठे हैं कि मैं यह हूँ –

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं ।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७

चाहे जाति का अभिमान हो या विद्वता का अभिमान, सारे अभिमान जब मिट जायँ। परशुराम जी और श्रीराम के संवाद में उसी अहम् का एक उत्कृष्ट संकेत किया गया। अन्त में परशुराम जी धनुष का त्याग कर देते हैं और त्याग ही नहीं कर देते, अपितु भगवान श्रीराम को समर्पित कर देते हैं, बल्कि यों कहें कि समर्पण ही नहीं, स्वयं धनुष ही परशुराम जी को छोड़ श्रीराम के पास चला जाता है। यह बड़ी सांकेतिक़ भाषा है।

महाराज जनक, विश्वामित्र और भगवान परशुराम – ये उस युग के तीन महान् व्यक्ति हैं और तीनों ने धनुष के द्वारा श्रीराम की परीक्षा ली। ताड़का आई, तो विश्वामित्र ने धनुष चलवा कर देखा। कहा – इसे मारकर दिखाओ। दूसरे महाज्ञानी हैं जनक। उन्होंने कहा – धनुष तोड़कर दिखाओ। तोड़कर भी दिखा दिया। परशुराम जी ने कहा – धनुष खींचकर दिखाओ। तब श्रीराम ने नई लीला रची। परशुराम जी ने हाथ में धनुष ले लिया और कहा – लो धनुष को चढ़ाओ और खींचो। श्रीराम ने हाथ नहीं बढ़ाया। क्या बात है?

परशुराम जी सोच रहे थे कि इतने बड़े धनुष को तोड़कर राम को अभिमान तो हुआ ही होगा। दीख तो यही रहा है कि नहीं हुआ, पर हुआ होगा अवश्य। श्रीराम का अभिप्राय था कि यदि मैंने तोड़ा होता तो अभिमान होता। इसीलिए वहाँ पर लिखा हुआ है कि श्रीराम को वहाँ पर न तो हर्ष हुआ, न विषाद। इसका अर्थ है कि जिसमें अहं होगा उसमें हर्ष भी होगा और विषाद भी। आपके मन की इच्छा पूरी होगी तो हर्ष होगा और पूरी नहीं होगी तो विषाद हो जायेगा। किसी ने गोली चलाई – निशाने पर लगी, उसे प्रसन्नता हुई, पर अगर निशाने पर न लगी तो उसे दुख तो होगा ही। पर कोई अगर बन्दूक से पूछे कि तुम्हें सुख-दुख कुछ हुआ या नहीं, तो उसे तो न सुख हुआ न दुख। **जो अहं लेकर चलता है, उसे सुख-दुख दोनों होता है और जो अहंशून्य है, उसे तो न सुख होता है न दुख। निमित्त जो होता है, वह सुख-दुख से रहित होता है।** इसीलिए इस कथा का बड़ा गम्भीर तात्पर्य है जब परशुराम जी ने कहा कि धनुष खींचकर दिखाओ, तो श्रीराम ने हाथ नहीं बढ़ाया। और तब एक दृश्य आया –

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ ।
परसुराम मन बिसमय भयऊ ।। १/२८४/८

परशुराम जी का प्रश्न था – बिना तोड़े धनुष कैसे टूट जायेगा? आप भी कहेंगे कि कोई काम बिना किए अपने आप कैसे हो जाएगा? भगवान ने दिखा दिया कि बिना तोड़े भी टूट सकता है। – कैसे? बोले – बिना खींचे यदि धनुष खिंच सकता है, तो बिना तोड़े टूट भी सकता है। धनुष खिंचकर स्वयं भगवान के पास चला जाता है। गोस्वामी जी कहते है –

देत चापु आपुहिं चलि गयऊ ।

एक ने धनुष को चलवाया, दूसरे ने तुड़वाया और तीसरे ने खिंचवाया। तीनों करने के बाद महानता यह है कि धनुष का सदुपयोग करके, श्रीराम रावण का वध करके आते हैं, तो उन्होंने पहला काम क्या किया? धनुष-बाण रख दिया –

बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक
देखे प्रभु महि धरि धनु सायक ।। ७/५/२

जो धनुष चलाना जानता है, उसे तोड़ना भी जानता है, खींचना भी जानता है, पर सब जानने के बाद उसे छोड़ना भी जानता है। यही पूर्णता है। यह छोड़ना ही सबसे कठिन है। यह छोड़ना तो भगवान शंकर जानते हैं और श्रीराम जानते हैं। वहाँ तो छोड़नेवाला हूँ – यह बात भी नहीं है। यह महानतम परीक्षा थी और उस परीक्षा में परीक्षक अनुतीर्ण हो गया, जो परीक्षा ले रहे थे, वे फेल हो गये। इस तरह श्रीराम के द्वारा जिस प्रकार धनुर्भंग के द्वारा, अहं से ऊपर उठकर अहं पर विजय प्राप्त करने के क्रम में, जहाँ कर्तृत्व नहीं है, वही राम का स्वरूप है।

❖ (क्रमशः) ❖

ऐसे नौजवान चाहिए

डॉ. शिवाजी चौहान, गुरसराय (झाँसी)

राष्ट्र की प्रतिष्ठा औ सुरक्षा की जिन्हें हो चिन्ता
ध्यानवान ध्येयवान धर्मवान चाहिए ।
ढूँढ़ लेते हैं जो समस्याओं के हल तुरन्त
ज्ञानवान गुणवान विद्वान चाहिए ।
मातृभूमि के लिए समर्पित हो सर्वस्व
देश के पुजारी प्रेम प्रतिमान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

शत्रुओं के सामने न शीश जो झुकाए कभी
नैन बैन ऊँचे नभ के समान चाहिए ।
दीनता औ हीनता की भावना न मन में हो
भीष्म जैसे प्रणवान बलवान चाहिए ।
तन चाहे तिल तिल कट जाये रण मध्य
अधरों पे वन्देमातरम् गान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

राष्ट्रप्रेम गंगा ले रही हो हिय में हिलोर
जीने की उमंग और स्वाभिमान चाहिए ।
भारत के वासी हम भारत हमारा प्राण
इस बात का भी होना अभिमान चाहिए ।
हौसले बुलन्दियों को छूते रहते हों सदा
आसमान जैसे ऊँचे अरमान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

देश को ही दाँव पे लगाने को जो उद्यत हों
सपनों में भी न ऐसे बेईमान चाहिए ।
कुर्सियों को ही जो धाम-तीरथ समझते हों
ऐसे भी व्यक्ति नहीं स्वार्थवान चाहिए ।
देश का जो देश खा रहे हैं फिर भी खाली पेट
ऐसे खानेवालों का न खानदान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

सेवा की सुगन्ध और चाहत के चन्दन से
चर्चित हों ऐसे तन-मन-प्रान चाहिए ।
घर-बार का भी मोह तोड़ दें जो तृण जैसा
ऐसे ही वैरागी त्यागी तपवान चाहिए ।
बलिदान होने की ललक भी ललकती हो
वीर गति पाते समय मुस्कान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

देश का जो संकट हटाने में समर्थ होवें
बुद्धि से जो काम लें, विचारवान चाहिए ।
पुरखों की परम्पराओं का जो निर्वाह करें
गौरव की रक्षा का भी उन्हें ध्यान चाहिए ।
राष्ट्र-हित-चिन्तन ही होवे कर्तव्य जिनका
प्रति क्षण होना हथेली पे जान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

राम जैसे पितृभक्त आरुणी-से गुरुभक्त
मातृ-पितृ भक्त भी श्रवण समान चाहिए ।
कृष्ण से कुशल कूटनीतिवान नीतिवान
चाणक्य जैसे राजनीतिवान चाहिए ।
ध्रुव और प्रह्लाद जैसे प्रभुभक्त होवें
धर्मवान कर्मवान मर्मवान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

वीर ने निवास किया वन में पच्चीस वर्ष
महाराणा प्रताप से प्रतापवान चाहिए ।
झाला जैसे स्वामीभक्त सत्यव्रती त्यागव्रती
भामाशाह से उदार धनवान चाहिए ।
शत्रुओं की नारियों का किया सदा सम्मान
छत्रपति शिवा से चरित्रवान चाहिए ।
देश के लिए जो जिएँ देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए ।।

जीने की कला (३२)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

कर्म : इसका महत्त्व और मूल्य

दुख और संकटों के जाल में फँस जाने पर लोग प्राय: कहते हैं – "हाय, मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया कि मुझे यह दुख मिल रहा है?" सदा से ही लोगों में यह विश्वास रहा है कि मनुष्य पर आनेवाले दुख-कष्ट तथा संकट उसके पूर्वजन्मों कुकर्मों के परिणाम हैं। जिन लोगों का पालन-पोषण वैज्ञानिक चिन्तन के वातावरण में हुआ है, वे लोग ऐसे विश्वासों को घोर अन्धविश्वास के रूप में उड़ा सकते हैं। पर कैसी द्वारा बताये गये असंख्य उदाहरणों से पता चलता है कि इस जीवन के दुखों और पूर्वजन्मों के दुष्कर्मों के बीच सीधा सम्बन्ध होता है। यहाँ ध्यान रखने योग्य केवल एक ही बात है कि दुख का बिल्कुल सही कारण समझा नहीं जा सकता।

'कर्म' ही एकमात्र ऐसा शब्द है जो दुख और दुष्कर्मों के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करता है। कैसी की उक्तियों में 'कर्म' और 'कार्मिक' शब्द बारम्बार आते हैं। 'कर्म' संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है कार्य। परन्तु भारतीय दर्शन में यह शब्द कार्य-कारण-सम्बन्ध या क्रिया-प्रतिक्रिया की ओर भी संकेत करता है। कर्मवाद घोषणा करता है कि व्यक्ति का जीवन कार्य-कारण-सम्बन्ध के सिद्धान्त द्वारा संचालित होता है। भारतीय दर्शन का गहन अध्ययन करनेवाले प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक इमर्सन ने इसे 'क्षतिपूर्ति का नियम' कहा है। "जैसा बोओगे, वैसा काटोगे" – ईसा मसीह के इस उपदेश में भी यही सिद्धान्त निहित है। न्यूटन के गति के तीसरे नियम के अनुसार "प्रत्येक क्रिया की एक समतुल्य और विपरीत प्रतिक्रिया होती है।" कैसी यथेष्ट प्रमाण देकर सिद्ध करता है कि यह नियम नैतिक जगत् पर भी लागू होता है। यद्यपि हम सभी यदा-कदा 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते रहते हैं, परन्तु इसकी दुर्बोधता तथा सारगर्भिता सभी युक्तिवादियों के लिए एक चुनौती प्रस्तुत करती है। कैसी बड़े ही सहज ढंग से हमारे सम्मुख कुछ ऐसी सत्य तथा रोचक घटनाएँ प्रस्तुत करता है, जो कर्म के नियम के संचालन की प्रक्रिया दिखाती हैं। कर्म-सिद्धान्त-विषयक इन असंख्य घटनाओं का अध्ययन करने पर हमें गीता के इस कथन की याद आती है – "**गहनो कर्मणा गतिः**" (कर्म की गति अबोधगम्य है)। कर्मवाद की गूढ़ बातों को समझने के लिए हम कैसी द्वारा प्रदत्त जीवन-वृत्तान्तों से कुछ ठोस उदाहरणों का अध्ययन करेंगे।

लौटा हुआ कर्म

नख-प्रसाधन द्वारा जीविका-निर्वाह करनेवाली एक महिला की कहानी बड़ी रोचक है। एक वर्ष की आयु में वह बच्चों में होनेवाली एक सामान्य बीमारी – पोलियो से ग्रस्त हो गयी। उसके दोनों पैर दुर्बल और अशक्त हो गए, जिसके कारण वह ठीक ढंग से चल-फिर नहीं सकती थी। उसे चलने के लिए छड़ी या बैशाखी का उपयोग करना पड़ता था। कैसी से उस बालिका के बारे में पूछा गया। कैसी ने उसके विषय में कर्म के प्रभाव को इस प्रकार समझाया, "अटलांटिस सभ्यता के दिनों में, अपने एक पूर्वजन्म में इसने मादक-द्रव्यों, टेलीपैथी (दूरबोध) या सम्मोहन के द्वारा अनेक लोगों को विकलांग बना दिया था। उसने अन्य लोगों को पूर्णतया अपने नियंत्रण में रखा था। उसने अपने पूर्व जीवन में दूसरों को जैसा दुख दिया, आज वह उसी से पीड़ित है।" कैसी इसी प्रकार के दुख को 'लौटा हुआ कर्म' कहता है, जिसमें दूसरों के लिए किया गया कोई हानिकारक कर्म, प्रतिक्रिया-स्वरूप उस दुष्कर्म करनेवाले के ऊपर ही लौटता हुआ प्रतीत होता है।

कैसी के विवरणों में 'लौटे हुए कर्म' का एक उदाहरण और है। चालीस-वर्षीय एक महिला अपने बाल्यकाल से ही एक विचित्र रोग से पीड़ित थी। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान इसे 'एलर्जी' कहता है। रोटी और दाल खाने पर वह तत्काल एक प्रकार के दमे तथा बुखार से आक्रान्त हो जाती थी। उसके फलस्वरूप वह लगातार छींकती रहती। कुछ वस्तुओं से सम्पर्क होने पर उसके स्नायु अत्यधिक तनावग्रस्त हो जाते और वह तीव्र पीड़ा का बोध करती थी। उसने अनेक चिकित्सकों की सलाह ली, पर व्यर्थ गया। यदि वह कभी चमड़े के जूते या चश्मे के प्लास्टिक-रिम का स्पर्श कर लेती, तो उसे भीषण दर्द होने लगता। उसने कैसी से भेंट की और इस भयानक रोग से मुक्त होने का उपाय पूछा। उसने अपने पूर्व जीवन के बारे में कुछ भी नहीं सुना था। परन्तु कैसी की अतीन्द्रिय दृष्टि ने उसके सुदूर अतीत जीवन में किये कर्मों को असन्दिग्ध रूप से प्रकट कर दिया। कभी यह महिला एक केमिस्ट थी। वह दूसरों की शरीर में खुजली उत्पन्न करनेवाले कई प्रकार के रसायनों का उपयोग किया करती थी। वह आज उसी के फल से पीड़ित थी। उसने विविध रसायनों का प्रयोग करके वायु को प्रदूषित करने का प्रयास किया था और इस प्रकार अनेक

लोगों को सांस लेने में असमर्थ बना दिया। अब, जिन चीजों से उसने दूसरों को पीड़ा पहुँचायी थी, उन्हीं चीजों के पास पहुँचने पर वह स्वयं अत्यन्त पीड़ित हो जाती थी।

कैसी के मतानुसार भौतिक स्तर पर कर्म का एक अन्य प्रकार है, जिसे वह शारीरिक अंगों से सम्बन्धित कर्म कहता है। ३५ वर्षीय एक व्यक्ति बचपन से ही बदहजमी से पीड़ित था। यद्यपि वह अपने भोजन के बारे में अति-सावधान रहता था, तथापि पाचन में उसे कठिनाई होती थी। कैसी के अनुसार अपने पूर्व जीवन में वह लुई तेरहवें के अंगरक्षकों में से एक था। वह एक स्वामीभक्त सेवक था, परन्तु पेटूपना उसकी कमजोरी थी। अपने एक जन्म में भी फारस में राज-चिकित्सक के रूप में वह महापेटू था। अतीत के दो जन्मों के अति-भोजन की कीमत उसे इस जीवन में चुकानी पड़ रही थी। पिछले जन्मों में भोजन की अनावश्यक बर्बादी की भरपाई अब वह बदहजमी के द्वारा कर रहा था।

प्रतीकात्मक कर्म

एक युवक अपने बचपन से ही रक्ताल्पता (एनीमिया) से पीड़ित था। उसके पिता एक विख्यात् चिकित्सक थे। बड़े यत्नपूर्वक उपचार करके भी वे उसे स्वस्थ नहीं कर सके। एक बार जब उन्होंने कैसी से पूछा, तो उन्हें निम्नलिखित उत्तर मिला, "पाँच जन्मों पूर्व वह पेरू में जन्मा था। एक जमीन के लिए उसने खून-खराबा किया और प्रबल अहंकार तथा क्रूरता दिखाई। वह खून-खराबा करनेवाला व्यक्ति ही आज खून की कमी से पीड़ित है। अब उसका शरीर अपने पूर्वकर्मों का युद्धस्थल बन गया है। कैसी का कहना है कि कुछ मामलों में व्यक्ति के शरीर का एक अंग कर्म का प्रतीकात्मक रूप लेकर दुख भोगता है। यह कर्म 'प्रतीकात्मक कर्म' कहलाता है।

क्रिया और प्रतिक्रिया के तीन क्षेत्र

व्यक्ति मुख्यत: तीन क्षेत्रों में अपनी इच्छा को आरोपित करता है – प्रथम, स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों में विभाजित उसका अपना शरीर। सूक्ष्म शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच महाभूतों और असंख्य संस्कारों वाले मन से बनता है। द्वितीय, समस्त बाह्य भौतिक परिवेशों से युक्त उसका प्राकृतिक पर्यावरण और तृतीय, इसका सामाजिक पर्यावरण अर्थात् उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी व्यक्ति।

कैसी आत्मा को अमर सत्ता मानता है। व्यक्ति के भौतिक स्वरूप को 'अस्ति' या सत्ता कहा जाता है। यहाँ पर हम इसे जीवात्मा कहेंगे। यह देहधारी आत्मा या जीवात्मा तीन प्रमुख क्रियाक्षेत्रों से घिरा रहता है – उसका अपना शरीर, भौतिक जगत् और अन्य मानव। देहधारी आत्मा के कार्य इन क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं। इसके फलस्वरूप इन क्षेत्रों में प्रतिक्रियाएँ उठती हैं और वे जीवात्मा को प्रभावित करती हैं।

इस प्रकार पेटूपन रूप क्रिया की प्रतिक्रिया-स्वरूप इसी या किसी अन्य जन्म में पाचन-तंत्र की दुर्बलता या बदहजमी होती है। यदि वह प्राकृतिक शक्तियों से सहयोग करता है, तो प्रकृति से होनेवाली प्रतिक्रिया उसे उन्नत और समृद्धि की ओर ले जाती है। और प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने पर उसे दण्ड मिलता है। समाज के प्रति दिखाई गई क्रूरता की प्रतिक्रिया उसे किसी-न-किसी रूप में पीड़ित कर सकती है। कैसी के विवरणों में इसके समर्थन में प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं।

विभिन्न जीवात्माओं द्वारा विभिन्न अवस्थाओं में प्राप्त कर्मफलों के अनुभवों के विभिन्न प्रकारों को समझने के लिए हम टेनिस के खेल का उदाहरण लेते हैं। एक मैदान में दो खिलाड़ी टेनिस खेल रहे हैं। मान लीजिए समय पूरा होने पर दोनों ने पांच पांच अंक प्राप्त कर लिए हैं। वे खेल बन्द करके मैदान छोड़कर जा सकते हैं। परन्तु थोड़ी देर विश्राम करने के बाद उनमें फिर खेलने की इच्छा जाग सकती है। तब वे किसी अन्य मैदान में जाकर अपना खेल जारी रख सकते हैं। मैदान बदलने के बाद भी पिछले मैदान में अर्जित अंकों के आधार पर खेल आगे चलता रहता है। पिछले मैदान के खेल में अर्जित अंकों के आधार पर उनका खेल जारी रखना उतना ही सत्य है, जितना कि इस नए मैदान में उनका खेलना। पिछले शरीर में प्राप्त अंकों का योग साथ लेकर जीवात्मा नये शरीर में प्रवेश करती है। इस प्रकार पुनर्जन्म के माध्यम से जीवात्मा का क्रम-विकास जारी रहता है।

कर्म वापस लौट आते हैं

कैसी का कहना है कि कर्मों के लिए मन की आनुवंशिक अभिव्यक्ति में स्वयं ग्रन्थियाँ ही केन्द्रबिन्दु हैं। उसके द्वारा दिये गये कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं –

१. अपने मोटापे से दुखी होकर एक युवती ने कैसी से अपनी दशा के बारे में पूछा। कैसी ने कहा, "दो जन्मों पूर्व तुम रोम में एक प्रसिद्ध पहलवान थी। मोटापे के कारण जो लोग तुम्हारी जैसी तीव्र गति से नहीं दौड़ पाते थे, तुम उनका मजाक उड़ाया करती थी। अब तुम स्वयं इसीलिए इतनी मोटी हो, ताकि पुन: उसी प्रकार लोगों को कष्ट न पहुँचा सको।"

२. एक महिला की हालत बड़ी दुखदायी है। वह अपने पूर्व जीवन में एक फ्रांसीसी कान्वेंट स्कूल में अध्यापिका थी। बच्चों की बाल्य-शरारतों तथा गलतियों को स्वाभाविक मान लेने और उनके व्यवहार को धैर्यपूर्वक सुधारने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के बजाय, वह बच्चों को निर्ममतापूर्वक दण्डित किया करती थी। वर्तमान जीवन में उसे अति ग्रन्थीय क्रियाशीलता की एक बीमारी हो गई, जिसके फलस्वरूप उसे अनियंत्रित रक्तस्राव होने लगा। इस कारण महीने में पन्द्रह दिन उसे बिस्तर पर लेटे ही रहना पड़ता था। वह अपना कार्य

जारी नहीं रख सकी और उसे आजीवन दुख भोगने पड़े थे। यद्यपि बड़ी मुश्किल से उसके विवाह की व्यवस्था हुई, तथापि जल्दी ही तलाक हो गया। फिर उसे सुरापान की लत लग गई और अन्ततः उसने स्वयं ही अपना प्राणान्त कर लिया।

३. एक बीस-वर्षीय क्रोधी युवक था। कैथॅलिक ईसाई मत के उसके वयोज्येष्ठ लोगों ने उससे पादरी बन जाने का अनुरोध किया था। परन्तु पादरी का जीवन उसे रुचिकर नहीं लगा। दूसरी ओर उसका मन प्रबल रूप से समलैंगिकता की ओर आकृष्ट हो गया था। कैसी से सलाह लेने पर उसने बताया, "अपने अतीत जीवन में तुम फ्रांसीसी दरबार में थे और तुमने कई दरबारियों के समलैंगिक जीवन का पर्दाफाश किया था। उस समय तुमने दूसरों के दोषों की निन्दा करने में रसास्वादन किया था। तुमने अपनी कार्टून बनाने की कला का उपयोग पूर्णतया इसी उद्देश्य के लिए किया था।" कैसी कहते हैं, "इसलिए दूसरों का निन्दा मत करो, ताकि तुम्हारी निन्दा न हो। क्योंकि जिस मानदण्ड से तुम दूसरों को मापते हो, बाद में उसी से तुम्हें भी मापा जाएगा। दूसरों में तुप जिस दोष की निन्दा करते हो, वही दोष स्वयं तुममें आ जाता है।"

कैसी बारम्बार कहते हैं कि दूसरों के दुखों को समझने की चेष्टा किए बिना, अपनी धर्म-संस्कृति तथा ज्ञान का अतिशय अहंकार कर्म की गम्भीर प्रतिक्रिया पैदा करेगा। उदाहरणार्थ –

४. सेना के एक २७ वर्षीय लेफ्टीनेंट के मन में प्रबल हीन-भावना आ गई थी। वह सर्वदा संशयग्रस्त रहता। अपनी स्नायविक दुर्बलता का कारण ढूँढ़ पाने में असमर्थ होकर वह कैसी के पास गया। कैसी ने कहा, "यह व्यक्ति अपने विगत जीवन में एक साहित्य-समालोचक था। वह अपनी रुचि के विपरीत बातों की कठोर शब्दों में निन्दा करता था। उसने असंख्य लोगों के मन में शंका एवं भ्रम उत्पन्न किया था। अब वह स्वयं अपरिहार्य भ्रम और सन्देह की अवस्था में पड़ा है।"

संसार में ऐसे अनेक लोग हैं, जो एक सच्चे समालोचक का कार्य करते हैं। अनेक लोग अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और निष्पक्ष समालोचना के नाम पर अपनी सदाशयता का प्रदर्शन और दूसरों की सुस्पष्ट निन्दा में लिप्त रहते हैं।" वे अपने सहज दुर्वचन और पर-निन्दा पर कभी लगाम नहीं लगाते। यद्यपि वे दूसरों के विचारों और भावनाओं, आदतों और व्यवहारों तथा रीतियों और कर्मकाण्डों को उचित रूप से समझने की क्षमता नहीं रखते, तथापि वे अकारण प्रहार करके अपने ही अहंकार को पुष्ट करते रहते हैं। वे स्वयं को दूसरे से सदैव हर मामले में बड़ा समझते हुए घृणित और तुच्छ प्रहार में लिप्त रहते हैं। यह अहंकार एक अन्य जन्म में एक अन्य परिवेश में अपना फल पायेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रचनात्मक आलोचना के लिए कोई जगह ही नहीं है। पर किसी अन्य व्यक्ति की विफलताओं को बढ़ा-चढ़ाकर देखने और अतिरंजित भर्त्सना में लिप्त रहना निस्सन्देह बुरे स्वभाव का ही द्योतक है। कैसी का कहना है कि व्यक्ति को अपने द्वारा बोये गये बुराई के इस बीज का बुरा फल चखना पड़ेगा।

भूल-चूक की त्रुटियाँ

कैसी कहता है कि दूसरों के दुखों की उपेक्षा करना भी एक प्रकार का पाप कर्म ही है। जहाँ सहानुभूति अपेक्षित है, वहाँ सहानुभूति न दिखाना भी एक भूलजन्य पाप है। पीड़ित लोगों की भावनाओं को आघात पहुँचाना, सहायता करने के बजाय उनकी हँसी उड़ाना भी एक पापकर्म है। क्या आप जानते हैं कि ऐसे पाप के क्या फल होते हैं?

साक्ष्य और प्रमाण

१. जन्म से बहरा एक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में सहायता और सम्बल हेतु किए गए अनुरोधों को अनसुना कर देता था।

२. हड्डी की टी.बी. से पीड़ित एक व्यक्ति अपने पूर्व जन्म में आलोचना के कटु शब्दों से दूसरों को चोट पहुँचाता था।

३. प्रचण्ड दमा से पीड़ित एक व्यक्ति ने अपने पूर्व जन्म में दूसरों के जीवन को कुचल डाला था। उसने कभी ठहरकर यह भी नहीं सोचा कि एक दिन उसे भी कठिनाइयों और परेशानियों का सामना करना पड़ सकता है। अब उसे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल चखना है।

४. ग्यारह वर्ष का एक बालक २ वर्ष की आयु से ही बिस्तर पर पेशाब करने के असाध्य रोग से ग्रस्त था। उसके माता-पिता ने इस रोग के प्रभावी उपचार का प्रयत्न किया, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अन्ततः जब उन लोगों ने कैसी की सलाह ली, तो बालक के कर्म की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि उजागर हो गई। फ्रांस में शुद्धतावादियों के युग में वह शाही दरबार में एक मंत्री था। सन्दिग्ध चुड़ैलों को तालाब में डुबाये जाते देखकर सुख पाया करता था, इस जीवन में मानो प्रतिकात्मक रूप से, रात्रि के समय उसे अपने ही पेशाब रूपी तालाब में पड़े रहने का अपमान सहना पड़ रहा था। माता-पिता ने कैसी के सुझावों का अनुकरण किया और उन्हें बालक की स्थिति में क्रमशः सुधार दिखने लगा। रात में जब बालक सोने लगता, तो वे उसके कानों में कहते, "तुम एक अच्छे बालक हो। तुम सज्जन और दयालु हो। तुम्हें अनेक लोगों को प्रसन्न रखना है। तुम अपने सम्पर्क में आनेवाले हर व्यक्ति की सहायता करने जा रहे हो। तुम सज्जन और दयालु हो।" माता-पिता ने सप्ताह भर उसे यह सुझाव दिया। ऐसा करने से वह रोग सप्ताह में एक बार और फिर महीने में एक बार हो गया। अन्ततः वह बालक पूर्णतया रोगमुक्त हो गया।

निराशावादी मत बनो

कर्म का अर्थ हमेशा पापकर्म का कुफल ही नहीं होता। कैसी का दृढ़ मत है कि हम जो कुछ भी करते हैं, उसका फल

अवश्यम्भावी है। हमसे सुधार के पथ पर चलने का अनुरोध करते हुए कैसी कहते हैं, "चूँकि कर्म का नियम बिना किसी पक्षपात के संचालित होता रहता है, इसलिए जैसे हर दुष्कर्म के लिए दण्ड भोगना पड़ता है, वैसे ही हर सत्कर्म का भी देर-सबेर पुरस्कार मिलता ही है। यदि हम कर्म के नियम को स्पष्ट रूप से समझ लें, तो हमें हताश होने की जरूरत नहीं। प्रतिक्षण हम अपने भविष्य का निर्माण करते हुए भविष्य की घटनाओं का निर्धारण कर रहे हैं।" इसे और भी स्पष्ट करने के लिए वह निम्नलिखित घटना का विवरण देता है –

अमेरिका में नेल-पालिश के वितरण में लगी हुई कम्पनियों के बीच एक युवती की बड़ी पूछ थी। वे कम्पनियाँ उस युवती के सुन्दर हाथों के छायाचित्र लेने के लिए एक दूसरे से होड़ कर रही थीं। उस युवती ने एक बार अपने विषय में कैसी से पूछा। कैसी की उक्तियों से पता चला कि उस युवती ने अपना पूर्वजन्म एक अँग्रेजी कान्वेंट में अनाथ बच्चों की सेवा में बिताया था। जिस कार्य को बाकी लोग घृणित तथा तुच्छ समझते, उसे वह महिला ईश्वर की सेवा मानकर करती थी। वह नित्य प्रार्थना करती, "हे प्रभो, आपने मुझे इस अवस्था में रखा है। मैं आपके लिए ये सब कार्य करूँगी। मुझे शक्ति दीजिए, ताकि मैं पूर्ण समर्पण के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर सकूँ।" उसने नित्य ऐसी प्रार्थना के साथ निष्ठा और समर्पण का जीवन बिताया। कैसी कहते हैं, "चूँकि उसने अपना जीवन पूर्णतया बच्चों के शरीर, मन और आत्मा की सेवा में समर्पित कर दिया था, इसलिए उसके शरीर, मन और आत्मा को अप्रतिम सौन्दर्य प्राप्त हुआ। प्रत्येक व्यक्ति का शरीर एक शरीरधारी जीवात्मा के व्यक्तित्व के इतिहास की एक कुंजी है।

आनुवंशिकता गौण है

आधुनिक मनोवैज्ञानिक माता-पिता के 'जीन' और पर्यावरण को व्यक्तियों के बीच भेद का कारण मानते हैं। कैसी कहते हैं कि प्रत्येक मानवीय प्रतिभा की जीन के द्वारा व्याख्या करनेवाले मनोवैज्ञानिक और प्रत्येक रोग की शारीरिक कारणों द्वारा व्याख्या करनेवाले चिकित्सक, मानो भोज में आये उस अतिथि के समान हैं, जो निमंत्रण के लिए मेजबान को नहीं, अपितु खाद्य-पेयों को परोसनेवाले बैरों को ही उसके लिए धन्यवाद देते हैं। कैसी के अनुसार शारीरिक आनुवंशिकता का अस्तित्व है पर यह मानसिक आनुवांशिकता की सहायक मात्र है।

कैसी का कहना है कि व्यक्ति को अपनी प्रतिभा या मेधा का चरम विकास करने के लिए कई जन्मों तक उद्यम करने की आवश्यकता होती है। वे ठोस प्रमाण देकर यह समझाते हैं कि साहस, भक्ति, इन्द्रिय-संयम, संगीत में अभिरुचि तथा साहित्यिक उपलब्धियाँ जैसे सद्‌गुण केवल एक ही जन्म में अर्जित सद्‌गुण नहीं होते।

एक बैंक-प्रबन्धक की बास्केट-बाल खेलने में गहरी रुचि थी। उसने रविवार को चर्च जाने की आदत छोड़ दी। उसके समुदाय के लोग उसके इस परम्परा-विरोधी विचारों के लिए उसे दण्डित तथा जाति से बहिष्कृत करना चाहते थे। परन्तु इसके पूर्व वे लोग कैसी से मिले और उन्होंने उनकी सलाह माँगी। कैसी ने उन्हें उसके कई पुराने जन्मों के वृत्तान्त बताते हुए कहा, "यह बैंक-प्रबन्धक अपने चौथे पूर्वजन्म में मिस्र की राजधानी में खजांची था, तीसरे पूर्वजन्म में विदेशी मालों के आयात में लगा हुआ एक फारसी व्यापारी था। अपने दूसरे पूर्वजन्म में वह रोम का एक प्रसिद्ध बास्केट-बाल का खिलाड़ी था और अपने विगत पूर्वजन्म में वह स्वदेशी उत्पादों के निर्यात और साथ ही निर्धन लोगों की कठिनाइयों तथा परेशानियों को दूर करने हेतु उनकी सहायता करने में तत्पर था।"

बैंक-प्रबन्धक के रूप में अपनी वर्तमान भूमिका में वह जरूरतमन्द लोगों को ऋण देकर उनकी मदद में रुचि लेता था और बास्केट-बाल में भी गहरी रुचि लेता था। यह उसके पिछले जन्मों में अर्जित गुणों का संचित प्रभाव था।

कैसी ने एक प्रसिद्ध अमेरिकी लेखिका के पिछले जन्मों की ओर संकेत किया था। वह अपने पिछले जन्म में एक प्रसिद्ध अभिनेत्री तथा नाटककार थी। अपने द्वितीय पूर्वजन्म में वह मिस्र के चर्च में 'मदर' थी। अपने तृतीय पूर्वजन्म में वह एक फीलिस्तीनी परिवार की बहू थी। और अपने चौथे पूर्वजन्म में वह छोटे बच्चों को आध्यात्मिक शिक्षा देनेवाली एक अध्यापिका थी। (प्रथम जन्म का अनुभव के फलस्वरूप) अपने वर्तमान जीवन में एक लेखिका के रूप में उसने (अपने तृतीय पूर्वजन्म के अनुभवों के कारण) माता और बच्चों के बीच सम्बन्ध और पारिवारिक जीवन की समस्याओं के बारे में लिखा। (अपने द्वितीय पूर्वजन्म के अनुभवों के आधार पर) उसने मिस्र के लोगों के जीवन का हृदयस्पर्शी यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया। यदि उसके साहित्यिक जीवन की पृष्ठभूमि पर विचार किया जाय, तो लगता है कि उसने अपने समस्त पूर्वजन्मों के अनुभवों को अभिव्यक्त किया था।

❖ (क्रमशः) ❖
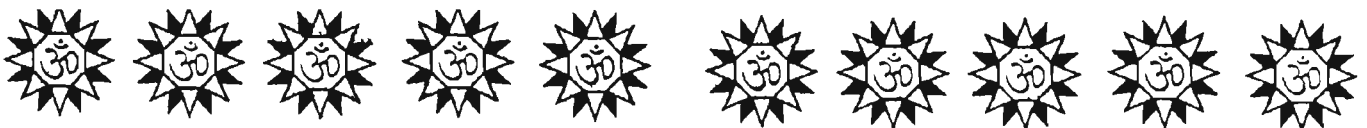
आत्माराम की आत्मकथा (१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर बँगला भाषा में 'आत्माराम की आत्मकथा' नाम से श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों के तथा अपने जीवन के भी कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे, जिनका डॉ. डी. भट्टाचार्य ने हिन्दी में अनुवाद किया था। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इनमें अनेक बहुमूल्य जानकारियों तथा घटनाओं का समावेश होने के कारण 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ हम इनका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

१९१६ ई. में घर छोड़ा। जिस रविवार के दिन घर छोड़ा, उस दिन मन बहुत उदास था। सांसारिक जीवन में जरा भी रुचि न थी। अपने प्रियजन भी बातें करते, तो अच्छा नहीं लगता था। उनसे बात करने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। केवल यही इच्छा थी कि जगदम्बा को पुकारते हुए कहीं चला जाऊँ और उन्हें पुकारता रहूँ। इसमें यदि यह शरीर चला भी जाय, तो जाय – मन में यही भावना प्रबल थी। कभी कभी आँखों से अश्रुधार भी बहने लगती थी, बड़ी चेष्टा करता कि किसी को पता न चले। सब पूछते थे 'तुम्हें क्या हो गया है'?

उन दिनों मैं प्रति रविवार बड़ी माँ (स्वर्गीय सेन महाशय की बड़ी पुत्री को माँ कहकर सम्बोधित करता था) के पास जाकर दोपहर का भोजन करता था। गृहत्याग करने के पश्चात् मैंने जगदम्बा से प्रार्थना की – "माँ, उन्हें (बड़ी माँ को) एक सन्तान देना, ताकि वे मुझे भूल जायँ।" मेरी प्रार्थना माँ ने तीन वर्ष बाद स्वीकार की थी।

उस रविवार को जो खाने के लिए घर से निकला था और लौटकर नहीं गया। खाने के बहाने से निकला था, पर बड़ी माँ के पास नहीं गया। यद्यपि दो-तीन बार मन में उनसे विदा लेने की तीव्र इच्छा भी हुई थी, परन्तु चूँकि मन बड़ा उदास था और बड़ी माँ देखते ही समझ जातीं। बड़ा बाजार के जगन्नाथ घाट पर आकर सिर का मुण्डन कराया और उसके बाद गंगा-स्नान तथा अल्पाहार करके ग्रैंड ट्रंक रोड़ पर सीधा चलना शुरू कर दिया। बेलूड़ तक आकर मठ में जाने की इच्छा तो हुई, परन्तु इस आशंका से आगे चलता रहा कि घर से खोज करने आनेवालों की पकड़ में न आ जाऊँ।

संध्या के समय श्रीरामपुर पहुँचा। दिन भर कुछ खाया नहीं था, इसलिए जोरों की भूख लगी थी और आगे चलना कठिन भी प्रतीत हो रहा था। चलते चलते यह सोच कपड़े और जूते फेंक दिये थे कि अब तो मैं एक भिखारी हूँ, अब इनकी क्या जरूरत ! जब निकला, तो साथ में मात्र दस आने थे। उसी में से नाई को और ट्राम-भाड़ा भी देना पड़ा था।

सोच रहा था – क्या खरीद के खाऊँ, भिक्षा माँगना तो असम्भव था। तभी स्टेशन के पास एक युवक ने मुझसे पूछा – "कहाँ जायेंगे?" बोला – 'त्रिवेणी" – यही याद आया। गाड़ी आने में अभी देर है, चलिए कुछ जलपान किया जाय और दो-चार बातें भी हो जायँ। मैं तो अचम्भित रह गया। जान न पहचान, ऊपर से सफेद कपड़े और तिलक आदि कोई चिह्न भी नहीं था – माँ, तुम्हारी लीला अद्भुत है !! कहा – "भाई, इतने पैसे मेरे पास नहीं है कि गाड़ी से जा सकूँ।" फिर जलपान करने के लिए उस युवक के साथ दुकान पर गया, खूब तृप्ति के साथ राजभोग और रसगुल्ले खाये, युवक ने पैसे चुकाये और कहा – "चलिए गाड़ी का समय हो गया है, मैं चन्दन-नगर तक का टिकट कर दूँगा।" मैं तो और भी अचम्भित हुआ। शास्त्रों में है और साधुजन भी कहते हैं कि अपना जन्मस्थान देखकर ही गृहत्याग करना चाहिए। मेरा भी वही हो रहा था। जन्म ठीक चन्दन-नगर में हुआ था या सैयदपुर में ठीक पता नहीं। सम्भवतः सैयदपुर में हुआ था। लेकिन बाद में मकान चन्दन-नगर में बनवाया गया था। और अपनी गर्भधारिणी माता की मृत्यु तक, बचपन का अधिकांश समय भी वहीं व्यतीत हुआ था।

संध्या के समय चन्दन-नगर पहुँचा। मकान ग्रैंड ट्रंक रोड पर था, मगर जान-पहचान के लोग देख न लें, इस भय से स्टेशन से निकलकर शहर के बाहर बगीचों के रास्ते घूमता हुआ मकान के सामने पहुँचा। तब तक रात के करीब साढ़े सात या आठ बज चुके थे। मकान में एक बड़े भाई सपरिवार रहते थे। पिता और हम तीन छोटे भाई कलकत्ते में रहते थे और मेरे सबसे बड़े भाई उस समय मैमनसिंह (अब बंगला देश में) रहते थे। मकान बगीचे के अन्दर फाटक से काफी दूर था, इसलिए किसी से भेंट होने की सम्भावना बहुत कम थी। तो भी डरते हुए दरवाजे तक पहुँचा और हाथ जोड़कर गृह-देवता तथा स्वर्गीय सम्बन्धियों को प्रणाम करके विदाई ली।

ईटखोला या गोसाईंघाट, जहाँ प्रति वर्ष स्वदेशी मेला लगता है, रात में वहीं पहुँचकर ठहर गया। गंगा की शीतल वायु के बावजूद मच्छरों के भयंकर उपद्रव के कारण नींद नहीं आई। भोर में चार बजे स्नान करके त्रिवेणी की ओर चल पड़ा। देह-मन में दुर्बलता थी। सारे दिन कुछ खाने को नहीं मिला था। चलने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। नंगे-पाँव कंकड़ों पर चलने के कारण पैरों में छाले पड़ गये थे। मन-ही-मन सोच रहा था – एक ही दिन में शरीर की यह अवस्था हुई, यदि दो-तीन दिन भूखे रहकर सौ-दोसौ मील चलना पड़े

तो? यदि सहसा मृत्यु भी आ जाय, तथापि अब लौटना सम्भव नहीं होगा। सड़क के भूखे कुत्तों से भी अधिक दुर्गति हो सकती है, क्योंकि वे तो जूठा खा सकते है, परन्तु मनुष्य होने के नाते मेरे लिए वैसा करना सम्भव नहीं होगा। ज्ञानी लोग कुत्तों की भाँति निर्विकार भाव से कुछ भी खा सकते हैं, लेकिन मैं तो ज्ञानी भी नहीं, इसलिए मेरी दशा उन कुत्तों से भी अधिक बुरी होगी। इसी प्रकार शायद मृत्यु भी हो जाय। माँ, अब चाहे जो भी हो, लौटकर नहीं जा सकता।

यहाँ एक अन्य बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। १९१२ ई. में भी मैं साधु बनने की आकांक्षा से अपने एक मित्र के साथ, बिना रुपये-पैसे लिये वाराणसी के लिए रवाना हुआ था। सोचा था कि वहाँ पहुँचकर संन्यास लेकर वस्त्रादि पहनेंगे – संसार बड़ा कटु है, इसलिए संसार में कभी नहीं रहेंगे। निर्धारित हुआ था कि हम दोनों हावड़ा स्टेशन पर मिलेंगे। मैं संध्या होते ही वहाँ पहुँच गया था और मित्र लगभग आठ बजे वहाँ आये। पैदल ही वाराणसी जाने की बात थी, पर मेरे मित्र अपने साथ कुछ रुपये लाये थे और कहा कि वर्द्धमान तक रेल से और फिर पैदल चलेंगे। तथास्तु। टिकट लेकर गाड़ी में बैठ गये और साढ़े बारह बजे वर्द्धमान पहुँचे। कचहरी के पास एक ब्राह्मण-दम्पति के छोटे-से ढाबे में भोजन किया। उन्होंने पूछा – "कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जाओगे?" उत्तर दिया – "काशी जायेंगे, पास में पैसे नहीं हैं, इसलिए पैदल ही।" वे बड़े दयालु थे और विशेषकर ब्राह्मणी बड़ी दयालु थीं। खाने के पैसे नहीं लिए और उसी ढाबे के कमरे में रेवड़ (एक तरह का घास) बिछाकर हमारे सोने का प्रबन्ध कर दिया। रात खूब सुखमय रही। भगवत्कृपा की बात सोचकर बहुत आनन्द हुआ। सुबह ब्राह्मण-दम्पति से विदा लेकर हम लोग ग्रैंड ट्रंक रोड से काशी के लिए रवाना हुए। वर्द्धमान में हुई भयानक वर्षा के बाद ही हम चल पड़े थे, अतः चारों ओर पानी जमा हुआ था। बारह बजे तक चलने के पश्चात् धूप की तेजी के कारण बहुत थक गये। प्यास भी खूब लगी थी। पैसा तो मेरे पास था नहीं, कहा – नजदीक ही किसी गाँव में चलें, भगवान की इच्छा हुई तो कुछ खाने को मिलेगा। लेकिन मित्र ने कहा कि बिना कुछ खाये अब वह एक कदम भी आगे नहीं चल सकता। बड़ी कठिनाई में पड़ा और सोचा – अकेला आता तो ठीक होता, परन्तु अब उपाय ही क्या था? सड़क के किनारे एक छोटी-सी झोपड़ी दिखाई दे रही थी, कहा – उस झोपड़ी तक चलो। जाकर देखा तो वह मुरमुरे की दुकान थी, लेकिन दुकानदार मुसलमान थे। मैंने कहा – "संन्यासी बनने जा रहे हो, भेद-भाव त्यागना होगा। तुम्हारे पास पैसे हैं, लाओ, तुम्हारे लिए छह पैसे के मुरमुरे खरीद कर लाऊँ।" उसने पहले तो दुविधा का बोध किया, फिर भूख के मारे हामी भर ली। मुसलमान की स्त्री ने कहा – "मैं मुसलमान हूँ, क्या तुम मेरे हाथ का खाओगे?" मैंने उत्तर दिया – "मैं जाति-वाति नहीं मानता, सब एक ही ईश्वर की सन्तान हैं।" केवल स्वच्छता का ख्याल रखता हूँ और वह भी स्वास्थ्य के कारण। मेरे बन्धु थोड़ी दूरी पर तालाब के किनारे बैठे थे। मुसलमान महिला आश्चर्यचकित होकर मेरी तरफ देखने लगी और बोली – "बात बहुत ठीक है" – और खुश होकर मुरमुरे कुछ अधिक दिये और साथ में गुड़ भी दिया। मैंने भी उसी में से दो मुट्ठी खाया और फिर पास के गाँव का रास्ता पूछकर उसी तरफ चल पड़े।

थोड़ी दूर पर ही थाना जंक्शन स्टेशन था और उससे आधे मील दूर दक्षिण में एक गाँव था। नाम याद नहीं। जमींदार के मकान में गये। जमींदार महोदय भोजन के बाद आराम कर रहे थे। अतिथि आये हैं – सुना, तो उठकर आये और हमसे आने का कारण आदि पूछा। हमने कुछ भोजन नहीं किया था – सुनकर कुछ मुरमुरे और गुड़ मँगवा दिये। मैंने थोड़ा ही खाया लेकिन मेरे मित्र आधा सेर खा गये। मेरे मित्र का शरीर विराट् था और भूख भी लगी थी। मैं स्वयं ठिगना और छोटा-सा ही हूँ, पर भूख तो मुझे भी कम नहीं लगती। रसोई की बात हुई, तो मैंने कहा – "आपके यहाँ होगा!" मेरे मित्र कट्टर ब्राह्मण थे, अतः जमींदार महाशय पाप के भय से राजी नहीं हुए। हाय रे पाप! एक थका-मादा, भूखा शरीर स्वेच्छा से खाना चाहता है, तो भी पाप के भय से पकाया हुआ चावल नहीं देंगे। पुजारी लोग भी कैसी पापबुद्धि लोगों के सिर में घुसा गये हैं! अब्राह्मणों को – तुम छोटे हो, तुम हीन हो, तुम अपवित्र हो, तुम्हारे छूने से ब्राह्मण नहीं खा सकते – कह-कहकर उन्हें कितना छोटा कर गये हैं! इसलिए घर की महिलाओं ने चावल, दाल, आलू आदि लाकर चूल्हा सुलगा दिया और पानी भी ला दिया। उसके बाद रसोई करने का भार मुझ पर पड़ा। मेरे मित्र उम्र में मुझसे बड़े थे और यह कार्य भी उन्होंने काफी किया था, परन्तु वे जड़ की भाँति पड़े रहे और कहा – "मुझमें बैठने तक की शक्ति नहीं है, तुम्हीं करो।" – "ठीक है भाई, तथास्तु।" चावल तथा आलू उबालने के लिए चूल्हे पर चढ़ा दिये और इसी बीच दूध, चीनी तथा केले भी आ गए। चार बजे तृप्तिपूर्वक आहार किया। इसके बाद कहा – "भाई, अब मन स्थिर कर लो। काशी का रास्ता पकड़ना है या घर का रास्ता। अब भी हम घर से बहुत दूर नहीं आये हैं, रास्ते में पुनः आज की जैसी स्थिति होने से बड़ी मुश्किल होगी। संन्यासी होना बड़ा कठिन है। हम तो पहले ही इस बात पर विचार कर चुके थे। रुपया-पैसा पास नहीं होगा और भिक्षा माँगने की आदत नहीं है। भोजन कभी मिलेगा, कभी नहीं। भगवान की दया पर ही निर्भर करने के सिवा और कोई उपाय नहीं होगा। पर एक दिन में ही तुम्हारी हालत ऐसी हो गई है, तो बाद में क्या करोगे? जो करना हो, अभी ठीक कर

लो। ट्रेन में आते समय तो तुम बड़े आनन्द से गा रहे थे, अत: सोचा था आखिर तक खूब आनन्दमय होगा, पर आज सुबह से ही तुम बड़े गम्भीर तथा उदास दिख रहे हो। सच कहो, घर लौटने की इच्छा हो रही है या नहीं? एक दिन के बाद ही तुम बहुत घबरा गये हो। स्टेशन पास ही है। चलो, तुम्हें गाड़ी में बैठा दूँ, फिर मैं अकेला ही जाऊँगा।''

रमापति (मेरे मित्र) राजी हो गये। जमींदार परिवार से विदा लेकर हम थाना जंक्शन स्टेशन आये। रमापति मुझसे उम्र में बड़े तथा शरीर के काफी लम्बे-चौड़े थे। परन्तु रंग काला था, इसलिए 'काला-मानिक' कहकर पुकारते थे। स्टेशन पहुँचकर रोते हुए मुझसे कहने लगे – ''मुझे घर पहुँचाकर तुम्हारी जहाँ भी इच्छा हो चले जाना, मैं अकेले नहीं लौटूँगा। मेरे पास पैसे नहीं हैं, केवल आठ आने हैं, इसे लेकर मैं कैसे कलकत्ते पहुँचूँगा। मुझे कलकत्ता पहुँचाकर तुम काशी जाना।''

उनकी करुण विनती सुन कर मैं तो सोच में पड़ गया कि क्या करूँ? कैसे उन्हें कलकत्ते पहुँचाऊँ? कहा – ''तुम्हें गाड़ी में बैठा दूँगा, फिर भगवान का नाम लेकर चल पड़ना। मुझे छोड़ो। लेकिन वह भी नाछोड़-बन्दा था। किसी तरह राजी नहीं हुआ। इसी बीच कलकत्ता जानेवाली आखिरी गाड़ी के आने का समय हो गया। सोच रहा था क्या करूँ?

रमापति स्टेशन मास्टर के कमरे में पानी पीने गया। लौट के आने में देर हो रही थी, इसलिए सन्देह हुआ कि रो-धोकर टिकट लेने की चेष्टा कर रहा होगा। सन्देह सच निकला। रो-रोकर कह रहा था – पैसे नहीं हं, कलकत्ता जाऊँगा, यदि दया करके किसी भी तरह सहायता करें। स्टेशन मास्टर ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया और असिस्टेंट स्टेशन मास्टर को चुपके से कुछ कहकर तेजी से गाँव की ओर चल पड़ा। यह देखकर मैंने रमापति को डाँटा और मन-ही-मन किसी आशंका की सम्भावना से डर गया। एक विपत्ति पर एक और विपत्ति आ खड़ी हुई। अब जगदम्बा की जो इच्छा है, वही होगा।

तभी एक सज्जन मेरे पास आकर बोले – ''स्टेशन मास्टर पुलिस को बुलाने गये हैं। गाड़ी आनेवाली है, उसमें बैठकर आप लोग यहाँ से चले जाइए, वरना बड़ा कष्ट उठाना पड़ेगा।'' मैंने कहा – ''हमने तो कुछ किया ही नहीं है।'' सज्जन बोले – ''किया आपने नहीं है, पर ये सज्जन (मेरे मित्र) टिकट माँग रहे थे – कल रात यहाँ एक डकैती हो गई है और उस दल में एक काला और लम्बा आदमी था, स्टेशन मास्टर को सन्देह है कि वह आदमी आपके मित्र ही हैं।''

हे भगवान! ये क्या अनहोनी विपत्ति आई? मेरे मित्र ने यह बात सुनी, तो डरकर रोना शुरू कर दिया। कोई उपाय न था, अत: उन सज्जन के कथनानुसार गाड़ी आने पर हम बिना टिकट उस में बैठ गये। जो माँ की इच्छा है, वही होगा। इस सत्परामर्श के लिए उनको बड़ा धन्यवाद दिया। हम दोनों अलग अलग डिब्बे में जा बैठे। वर्द्धमान में टिकट कलेक्टर के हाथों पकड़े जाने के डर से स्टेशन आते ही हम गाड़ी से उतर गये। दो एक पुलिस वाले चक्कर लगा गये, पर कोई टिकट कलेक्टर नहीं आया। गाड़ी के चलते ही हम फिर चढ़ गये। इस बार हम एक ही डिब्बे में बैठे। लिलुआ में पकड़े जाने का डर था, लेकिन यह सोचकर निश्चिन्त हो गये कि वहाँ एक परिचित रहते हैं, उनसे पैसे उधार ले लेंगे।

पुरखों की थाती

अनन्तानिह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् ।
नातः सुखेषु बध्नीयात् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ।।

– इस संसार में दु:ख अनन्त हैं और सुख की मात्रा घास के एक टुकड़े के समान है, अत: व्यक्ति को दुखों को ध्यान में रखते हुए सुखों में नहीं बँधना चाहिए।

अभिमान-कृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते ।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ।।

– हे राजन्! अहंकार से प्रेरित होकर किया गया कर्म फलदायी नहीं माना जाता; त्याग से युक्त सारे कर्म महा-फलदायी कहे गये हैं।

अपि मेरुसमं प्राज्ञम् अपि शूरमपि स्थिरम् ।
तृणीकरोति तृष्णैका निमिषेण नरोत्तमम् ।।

– कोई व्यक्ति चाहे मेरु पर्वत के समान विशाल ज्ञानवाला हो, या महान् शूर-वीर हो, या स्थिर बुद्धिवाला हो, ऐसे श्रेष्ठ लोगों को भी तृष्णा या कामना पलक झपकते ही तिनके जैसा क्षुद्र बना देती है।

अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत्फलम् ।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।।

– जो व्यक्ति सबको अभय प्रदान करता है, उसे महान् फल की प्राप्ति होती है, क्योंकि तीनों लोकों में प्राणदान के समान अन्य कोई दान नहीं है।

अभ्यासिनामेव लभ्या अपि विद्याश्चतुर्दशा ।
अप्यर्क-मण्डलं भित्वा अभ्यासिनैवेह गम्यते ।।

– अभ्यास करनेवाले व्यक्तियों को ही सभी चौदह विद्याएँ प्राप्त होती हैं और अभ्यास करनेवाला सूर्य-मण्डल को भी भेदकर (उच्चतर लोकों में) चला जाता है।

गाड़ी के बेलूड़ पहुँचते ही मेरे मित्र उतर गये। मैंने सोचा शायद पानी पीने गये होंगे। गाड़ी के छूटने की सीटी बजी, तब भी न आते देख सन्देह हुआ। प्लेटफार्म की तरफ घूमकर देखा। असिस्टेंट स्टेशन मास्टर के साथ विवाद हो रहा है, वे मेरे मित्र को पकड़े हुए थे। मित्र को इस विपत्ति में छोड़कर चले जाना अनुचित होगा, इसलिए माँ का नाम लेकर मैं भी उतर पड़ा और गाड़ी चली गई। जाकर असिस्टेंट स्टेशन मास्टर से पूछा – "क्या बात है?" उन्होंने (मेरे मित्र को दिखाकर) कहा – "ये सज्जन झूठ बोल रहे हैं। ये गाड़ी से उतरकर टिकट खरीदने आये थे। मैंने पकड़ लिया। यदि सच कहते तो मैं इन्हें छोड़ देता, लेकिन इन्होंने झूठ बोला, इसलिए पैसे लेकर ही छोड़ूँगा। इन्होंने अपना परिचय बेलूड़ के निवासी कहकर दिया था। जब पूछा बेलूड़ किधर है, तो ठीक उल्टी दिशा में बताया।" तब तक स्टेशन मास्टर भी वहाँ आ पहुँचे। मैंने कहा – "बहुत हुआ, अब छोड़ दीजिए।" मेरे मित्र की तरफ इशारा करके उन्होंने कहा – "तुम सच कह सकते थे। आखिर ये बंगाली हैं, सच कहने से ये तुम्हारी सहायता कर सकते थे।" दोनों स्टेशन मास्टरों ने कहा – "बहुतों के पास पैसा नहीं होता। सच कहने से कई बार छोड़ देते हैं या टिकट खरीदने में सहायता करते है।" बड़े मास्टर ने कहा – "मैं होता, तो शायद कुछ नहीं कहता, लेकिन छोटे मास्टर बड़े स्ट्रीक्ट है।" मैंने कहा – "तो भी अच्छे हैं, क्योंकि दयालु हैं।" इस प्रकार अपने मित्र को छुड़वा लिया। दोनों स्टेशन मास्टर चले गये। ईश्वर की कृपा से दोनों को ही मुझ पर सन्देह ही नहीं हुआ, इसलिए पूछा नहीं कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ? इतने समय तक मेरे मित्र लज्जित होकर चुप खड़े थे। एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था। उनके सामने कुछ बोलते ही मुश्किल हो सकती थी।

स्टेशन के अँधेरे प्लेटफार्म पर एक बेंच के ऊपर बैठकर मैंने पूछा – "टिकट खरीदने गये थे, तो मुझसे कह कर क्यों नहीं गये? मैं अगर प्लेटफार्म की तरफ न देखता तो तुम रह जाते और बड़ी मुश्किल में पड़ जाते।" मित्र ने कहा – "सोचा, आठ आने पैसे हैं, लिलुआ में पकड़े जायेंगे तो बड़ी मुश्किल होगी, इसलिए यहाँ से दो टिकट खरीद लूँ।" इस विषय पर और कोई चर्चा न कर मन-ही-मन ईश्वर का स्मरण करके कहा – "अब क्या इच्छा है, कहो? बेलूड़ मठ यहाँ से जितना दूर है, प्राय: उतना ही हावड़ा स्टेशन भी है। मठ में इतनी रात को शायद स्थान न मिले और तुम्हें लेकर वहाँ जाने की इच्छा भी नहीं है। हावड़ा जाना चाहते हो तो पटरी के पास से होकर चलो।" वे हावड़ा जाने को राजी हो गये। मुझे लग रहा था कि उन्हें हावड़ा पहुँचा दूँ, तब शान्ति मिले। फिर उसे नमस्कार करके विदा लूँगा।

अँधेरी रात थी। बड़ी मुश्किल से चलना शुरू किया। बीच बीच में तार से, पत्थर से, या रेल की पटरी से ठोकर खाते खाते लिलुआ पहुँचे। स्टेशन पर अन्धकार था। मेरे मित्र ने कहा – "चुपचाप मेरे साथ आओ और यदि कोई पूछेगा, तो मैं उत्तर दूँगा।" करीब आधे प्लेटफार्म तक आ गये थे, तभी किसी ने पूछा – "कौन है?" उत्तर दिया – "हम हैं।" वह और कुछ नहीं बोला, सो गया। हम भी आराम से स्टेशन पार करके हावड़ा की ओर चल पड़े। रेल की पटरी के पास से होकर चलना खतरनाक था, अत: शहर के रास्ते पहुँचे, और हावड़ा स्टेशन पर जाकर जलपान किया।

इसके बाद वहाँ एक बेंच पर बैठकर मैंने कहा – "मित्र, अब मुझे विदा लेने दो। कलकत्ते तक तो पहुँचा दिया और आशा करता हूँ कि अब खुद ही अपने घर पहुँच जाओगे। इतनी रात को न जाकर सुबह ही चले जाना। मैं भी अपने घर जाऊँगा। तुम्हारे साथ जाकर मुझे एक महान् शिक्षा मिली है कि 'गृह-त्याग दो व्यक्ति मिलकर और आपसी सलाह से नहीं होता।' साथी लेकर साधु होना असम्भव है और मेरा अभी भी समय नहीं हुआ है, अन्यथा प्रभु मुझे इस प्रकार क्यों लौटा लाते! लेकिन जीवन का लक्ष्य – त्यागाश्रम ही रहेगा। और एक बात – मित्र होने के नाते तुम्हें अपने मन की इच्छा बताई थी और तुम स्वयं अपनी इच्छा से मेरे साथ चलने के लिए राजी हुए थे। अत: तुम्हारे इस प्रकार मेरे साथ जाने के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। संन्यास-मार्ग पर निकलने के पूर्व कई बार हमने इसकी कठिनता, उसका कष्टदायक जीवन पर चर्चा की थी। तुम सब सोच-समझकर ही जाने के लिए तैयार हुए थे। तुम इतने दुर्बल हो, नरम हो – यह मुझे ज्ञात न था। अस्तु, घर के लड़के हो घर लौट जाओ। मैं तो चला।"

यह कहकर उसे स्टेशन छोड़कर मैं रात के करीब दो-ढाई बजे अपने घर पहुँचा। सुबह खूब हंगामा हुआ। सब पूछने लगे – "तुम बिना कुछ बताये कहाँ चले गये थे?" कहा – "एक जगह गया था।" पर पिता से छिपाना कठिन था। जाने के पूर्व एक कागज के टुकड़े पर कुछ लिखा था, जो उन्हें मेरी किताब-कॉपियों में ढूँढ़ने से मिल गया था। ठीक क्या लिखा था, याद नहीं, शायद लिखा था – "Renunciation is the goal of my life. This world is full of misery. Blessed is he who realises God." (त्याग ही मेरे जीवन का आदर्श है। यह संसार दुखमय है। धन्य है वह व्यक्ति जो ईश्वर-दर्शन करता है।) उस पर किसी का नाम नहीं था, पर नि:सन्देह पिताजी के लिए ही लिखा था। वे बोले – "लौट आए हो, बहुत अच्छा किया। जितने दिन मेरा शरीर है, यहीं रहो। मेरी मृत्यु के बाद जो इच्छा हो करना।" और कुछ नहीं कहा। और फिर कभी किसी दिन इस विषय को लेकर मेरे साथ चर्चा नहीं की और न पूछा, मानो कुछ हुआ ही न हो। इसी प्रकार १९१६ ई. तक के दिन बीतते गये। ❖ **(क्रमश:)** ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– १२ –

ईश्वर कल्पतरु के समान हैं

जेठ की तपती दुपहरी में एक राहगीर तेजी से पैर उठाये अपने गाँव की ओर चला जा रहा था। रास्ते में एक बीहड़ जंगल पड़ता था। वह जंगल तरह तरह कें वन्य पशुओं से भरा हुआ था। इसलिए उसने दिन के रहते ही जंगल को पार कर लेने का निश्चय किया। छायाहीन लम्बे रास्ते को तय करने के बाद जंगल में पहुँचकर उसे बड़ी राहत मिली। तन-मन झुलसाने वाली गर्मी से कुछ समय के लिए तो पिण्ड छूटा, लेकिन अब उसके सामने एक नई कठिनाई भी आ उपस्थित हुई। छायावाले प्रदेश में आते ही उसे अधिक प्यास लगने लगी। भूख से उसकी आँतें कुलबुलाने लगीं।

एक वृक्ष की घनी छाया देखकर उसने तनिक देर पैरों को सीधा करने की सोची। वह लेट गया। शीतल बयार मानो उसे सहलाने लगी। लेटे लेटे वह सोचने लगा – "जोरों की भूख-प्यास लगी है, अभी यदि कुछ भोजन और ठण्डा पानी मिल जाता, तो भगवान को धन्यवाद देता।" सोचने की देर थी कि वह आश्चर्य से देखता है कि समीप ही एक सुराही में जल और एक थाल में पकवान रखे हुए हैं। विस्मय-विमुग्ध होकर वह उठ खड़ा हुआ। मन में थोड़ा भय भी हुआ कि कहीं कोई प्रेतलीला तो नहीं है! पर उसे भूख-प्यास जोरों से सता रही थी। उसने भरपेट स्वादिष्ट पकवान खाये और जल पीकर डकार लिया।

"अहा!" उसने सोचा, "यदि लेटने को एक गद्दा भी मिल जाता, तो कैसा मजा आता!" सोचने की देर थी कि एक सुन्दर गद्दा सामने बिछ गया और उस पर एक तकिया भी आ गया। उसने सोचा कि भगवान बड़े ही कृपालु हैं, जो इस प्रकार मनचाही वस्तुएँ प्रदान कर रहे हैं।

वह गद्दे पर लेट गया। पैर पसार लिए। मुलायम गद्दा पाकर आलस्य ने उसे अभिभूत कर लिया। उसके अंग अंग टूट रहे थे। वह सोचने लगा – "भगवान ने दया करके इतनी सारी चीजें तो भेज दीं, अब यदि वह पैर दबाने के लिए भी किसी को भेज देता, तो फिर कहना ही क्या था!" सोचने की देर थी कि उसने अत्यन्त विस्मय से देखा, एक सुन्दरी युवती उसके पैताने बैठी हुई है और उसके पैरों को दबाने के लिए अपने हाथ बढ़ा रही है। राही ने सोचा – मैं कहीं सपना तो नहीं देख रहा हूँ! उसने दो-तीन बार अपनी आँखें मलीं और विस्फारित नयनों से देखने और सोचने लगा – नहीं, यह सपना नहीं है – समीप ही बैठी हुई वह सुन्दरी उसके पैरों पर हाथ फेर रही थी। राही सुख के समुद्र में डूब गया और उसे पता ही न चला कि कब वह निद्रा के वशीभूत हो गया। .

नींद खुलने पर उसने पाया कि दिन ढल चुका है। साँझ उतर आयी है। उसने धीरे धीरे सारी बातें याद करने की कोशिश की। इधर-उधर मुड़कर देखा – वहाँ सुन्दरी नहीं थी, पानी की सुराही और थाल भी न थे। वह सोचने लगा कि क्या उसने सपना देखा है! पर जिस गद्दे और तकिए पर वह लेटा हुआ था, वे इस बात के प्रमाण थे कि उसने स्वप्न में नहीं, बल्कि सचमुच में उन बातों का अनुभव किया था।

वह झटपट उठ खड़ा हुआ। अभी तो सारा जंगल पार करना बाकी था। जंगल की साँझ बड़ी भयावह होती है। वह भय से काँपने लगा, उसके मन में विचार आया कि यदि कहीं से कोई बाघ निकलकर उस पर टूट पड़ा तो ... । बस, सोचने भर की देर थी – कहीं से एक बाघ दहाड़ता हुआ निकला और एक झटके में उसने राहगीर का काम तमाम कर दिया।

जानते हो वह वृक्ष क्या था? वह था – कल्पतरु। राहगीर को इसका ज्ञान नहीं था कि वह कल्पतरु के नीचे बैठा हुआ है। यही कारण था कि उसके मन में कोई विचार उठते-न-उठते, उस इच्छा की पूर्ति हो जाती थी।

ईश्वर भी कल्पतरु हैं। उनके समक्ष जो भी इच्छा व्यक्त की जाय, वे उसे पूरा करते हैं। पर मुश्किल यह है कि मनुष्य के मन में एक साथ सैकड़ों भले-बुरे विचार उठते रहते हैं, अत: जैसे वह अपने सद्विचारों के सुफल प्राप्त करता है, वैसे ही अपने कुविचारों के कुफल भी पाता है। यही कारण है कि मनुष्य को अपनी प्रार्थना के अनुरूप फल दिखायी नहीं देता। यदि वह एकाग्र चित्त से, एक ही विचार को मन में रखते हुए ईश्वर से प्रार्थना करे, तो अवश्य उसकी इच्छा की पूर्ति होगी।

संसार में जीवों की भी ऐसी ही दशा होती है। जो जो कुछ सोचता है, वह साधना करने पर वही पाता है। जैसा भाव होता है, वैसा ही लाभ भी होता है। साधना करते हुए यदि विषय-सुख, धन-जन अथवा मान-यश आदि की कामना की जाय, तो ऐसी कामना कुछ अंश में अवश्य पूर्ण होती है, परन्तु अन्त में बाघ का भय भी रहता है, अर्थात् रोग-शोक-ताप-अपमान तथा धनहानि रूपी बाघ जीते-जागते बाघ से लाख-गुना अधिक कष्टदायी होते हैं।

– १३ –

'वेदान्ती' की दुर्गापूजा

बंगाल में एक छोटी-सी रियासत है। वहाँ के जमींदार अपने दिनों में दुर्गापूजा का भव्य समारोह करते थे। महीना भर पहले से ही उनके बृहत् दालान में चहल-पहल मच जाती। कलकत्ते से दुर्गामाता की मूर्ति गढ़ने कलाकार आ जाता। जैसे जैसे पूजा के दिन समीप आते, ग्रामवासियों का उत्साह बढ़ने लगता। आम की पत्तियों के तोरणों और झालरों से सजावट की जाती। केले के पेड़ खड़े किये जाते। और जब देवी की प्राण-प्रतिष्ठा कर षष्ठी के दिन उसका विधिवत् उद्‌बोधन किया जाता, तब तो वातावरण उल्लास से भर जाता। पूजा के दिनों देवी के समक्ष बकरों की बलि दी जाती और छककर महाप्रसाद का सेवन किया जाता।

एक वर्ष आयोजन कुछ फीका रहा। महीने भर पहले से जो चहल-पहल रहा करती थी, वह भी कम रही। पूजा में से बलि का कार्यक्रम भी निकाल दिया गया। किसी मित्र ने जमींदार से पूछा, "क्यों भाई, इस वर्ष तो तुमने हमें पूजा का निमंत्रण ही नहीं दिया। सुना है कि इस साल पहले जैसी रौनक भी नहीं थी। क्या बात है?" जमींदार ने उत्तर दिया, "बात यह है कि अब मैं बेदान्ती हो गया हूँ।"

मित्र चकरा गये। उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उनका यह शाक्त मित्र कभी वेदान्ती भी हो सकता है। वे अचरज में आकर जमींदार से बोले, "अरे! यह रोग तुम्हें कब से लग गया! तुम तो पिछले वर्ष तक पूरे शाक्त थे, देवी की पूजा-उपासना करते थे। वेदान्त के चक्कर में कैसे पड़ गये? तुम किसी संन्यासी के फेर में तो नहीं पड़े?"

मित्र की बात सुनकर जमींदार हँस पड़े। अपना पोपला मुँह मित्र को दिखाकर बोले, "अरे, तुमने मेरी बात समझी नहीं। देखो, मेरे सारे दाँत कुछ महीने पहले गिर गये, इसीलिए मेंने कहा कि अब मैं 'बेदान्ती' (बे-दाँती) हो गया हूँ। अब महाप्रसाद का मजा तो मैं ले नहीं सकता था। आशा करता हूँ कि तुम मेरी बात समझ गये होगे।"

मित्र ठठाकर हँस पड़े।

मनुष्य ईश्वर की पूजा भी स्वार्थवश ही करता है। जैसी उसकी भौतिक रुचि होती है, तदनुरूप वह पूजा-सामग्री का उपयोग करता है। उससे उसका आत्मिक हित नहीं हो पाता। पूजा उसके लिए भोग का एक माध्यम बन जाती है। जब तक व्यक्ति आत्म-विवेचन नहीं करता, जब तक देवी के स्वरूप पर विचार करके वह उनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता, तब तक पूजा भोग का एक साधन मात्र रहती है। भोग की शक्ति जाते ही पूजा का आयोजन भी शिथिल हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह इस प्रकार के 'बेदान्ती'-भाव से बचे।

– १४ –

फूलों की और मछली की गन्ध

किसी गाँव में एक धीवर-दम्पति का निवास था। मछुवारा भोर से ही लेकर दिन भर मछलियाँ पकड़ता और मछुवारिन शाम को उन्हें बाजार में बेच आती। इसी से जो-कुछ आमदनी हो जाती, उसी से दोनों अपनी आजीविका चलाते। इसी प्रकार दोनों के दिन बीत रहे थे।

एक दिन मछुवारिन को मछलियाँ बेचने के लिए दूर के हाट में जाना पड़ा। मछलियाँ बिकते बिकते शाम घिर आयी। परिचित साथिनें पहले ही घर की ओर रवाना हो चुकी थीं। मछुवारिन ने सोचा – अकेले भला कैसे इस लम्बे अँधियारे रास्ते को पार किया जाय! तभी उसे ख्याल आया कि पास के गाँव में ही तो मेरे बचपन की एक सहेली मालिन रहती है। क्यों न आज उसी के यहाँ रह जाऊँ! बहुत दिनों से उसके साथ भेंट-मुलाकात भी नहीं हुई है। बड़ी खुश होगी। ऐसा सोचकर मछुवारिन मालिन के गाँव की ओर चल पड़ी। वहाँ पहुँचते पहुँचते रात भी हो गयी।

लम्बे अरसे बाद अपनी सहेली को देखकर मालिन दौड़कर आयी और उसके गले से लिपट गयी। बड़े स्नेहपूर्वक वह उसे घर के भीतर ले गयी। मछुवारिन ने अपने सिर पर से मछली की टोकरी उतारी और एक कोने में रख दिया। संसार के दुख-सुख की बातें चलने लगीं। मालिन ने जैसा भी बन पड़ा अपनी सहेली के लिए विशेष भोजन की व्यवस्था की और उसके बाद भी काफी रात गये दोनों के बीच बातचीत होती रही।

मालिन ने अपने फूल रखने के कमरे में ही दोनों के सोने की व्यवस्था की। मछुवारिन को बड़ी देर तक नींद नहीं आयी। वह बारम्बार करवटें बदलती रही। मालिन ने चिन्तित होकर पूछा, "क्यों सखी, आज नींद क्यों नहीं आ रही है? तबीयत तो ठीक है न?" मछुवारिन बोली, "क्या बताऊँ, आँखें ही नहीं लग रही है! यहाँ जो गुलाब, मोंगरे आदि के इतने सारे फूल यहाँ रखे हैं, शायद इनकी गन्ध के कारण ही मुझे नींद नहीं आ रही है। जरा मेरी वह मछली की टोकनी को लाकर दे तो। देखूँ, उससे कहीं नींद आ जाय।"

मालिन उठी और टोकनी ले आयी। मछुवारिन ने उस पर पानी के छींटे दिये और नाक के पास रखकर सो गयी। थोड़ी ही देर में वह खर्राटे भरने लगी।

संसारी जीवों का यही हाल है। वे विषय-सुख और भोग-वासना के वातावरण में पले होते हैं इसलिए त्याग और पवित्रतापूर्ण वातावरण में जाते ही उनका दम घुटने लगता है और वे बेचैन हो जाते हैं। ❖ (क्रमशः) ❖

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (२/२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

कल आपसे निवेदन किया था कि सबको चेतना में परिवर्तन लाना होगा। हम इस विश्व की, ब्रह्माण्ड की चर्चा कर रहे हैं। क्या हम ब्रह्माण्ड के बाहर हैं? क्या हम ईश्वर के बाहर हैं? क्या हम पृथ्वी के बाहर हैं? दूसरी तरफ सोचना बन्द कर दें, अपने आप में लौट आएँ। हमारा निर्माण किसने किया? हमारे माता-पिता हमारे जीवन के निमित्त कारण हैं। हमारा निर्माण हमने स्वयं किया है। हमारी वासनाएँ थीं। हमारी इच्छाएँ थीं। हमारे मन में कर्म की प्रेरणाएँ थीं। इसलिए हमारा जन्म हुआ है। इसके पहले कब हमारा जन्म हुआ? कोई तो पहला जन्म होगा। सबके मन में यह प्रश्न आता है। बहुत बार लोग हम लोगों से पूछते हैं कि पहली बार ऐसा क्या पाप किया भाई, अभी तो पूर्व जन्म का भोग रहे हैं। उसके पूर्व कोई तो ऐसा समय था जब हम कुछ नहीं थे। वही जब हम कुछ नहीं थे, उसी का नाम ब्रह्म है। हम ब्रह्म ही थे। अज्ञान के कारण हम अपने को ब्रह्म से अलग समझने लगे। अब, हमारे जीवन में जो समस्याएँ दिख रही हैं, उसका समाधान क्या है? उसका समाधान इसी उपनिषद् में दिया गया है। जैसे जीवित पुरुष में नख, बाल निर्जीव होते हैं, किन्तु ये जीवित पुरुष से ही निकले हैं। जैसे पृथ्वी में पेड़-पौधे आदि उगते हैं। वैसे ही हम सभी उस चैतन्य ब्रह्म से आए हैं। इसलिए हमको वहीं लौटकर जाना है। जब तक वहाँ लौटकर नहीं जाएँगे, तब तक हमें विश्राम नहीं मिल सकता। ऐसा ईश्वर जहाँ से हम आए हैं, वह कहाँ है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **ईश्वरः सर्वभूतानाम् हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** (गीता-१८/६)। वह हमारे हृदय में ही विद्यमान है। ऐसा ईश्वर जिस ईश्वर से यह संसार बना है। जिस ईश्वर ने हमारा निर्माण किया है। वह ईश्वर सर्वव्यापी है। यदि यह धारणा दृढ़ हो जाय तो क्या लाभ होगा? कुछ लाभ अवश्य हो सकता है। मैं आपसे अनुभूति की बात नहीं कर रहा हूँ। किन्तु यदि यह धारणा हमारे मन में दृढ़ हो जाय कि यह सब कुछ ईश्वर की ही रचना, ईश्वर का ही स्वरूप है, तो मन से राग-द्वेष निकल जाएँगे। वे बहुत शिथिल हो जाएँगे। यही वह ईश्वर है। आज ईश्वर की उपासना के लिए हमें मन्दिर, मस्जिद और गिरिजा में जाना पड़ता है। पर, जो व्यक्ति इस प्रकार का चिन्तन करे और चिन्तन करके यह समझ ले कि जो कुछ दिख रहा है – **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** – यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ईश्वर ही है। उसी ईश्वर की रचना में मैं भी एक अंश हूँ। उसी ईश्वर की रचना में गृहस्थ का पुत्र, उसकी पत्नी, उसकी सम्पत्ति आदि भी है। यह सब ब्रह्म ही है, और कोई वस्तु नहीं, यही बात दृढ़ता से यदि कोई पालन करे। चाहे कोई व्यक्ति गृहस्थ हो या संन्यासी, गृहिणी हो, पति या पत्नी हो, जो कोई भी यदि दृढ़ता पूर्वक इसका चिन्तन करने लगे, तो ऋषिगण, आचार्यगण कहते हैं कि इसी के द्वारा उसकी मुक्ति हो जाएगी। किन्तु, यह चिन्तन कब तक? **आसुप्तेः आमृतेः कालं नयेत् वेदान्त चिन्तया** – जब तक जागते रहें तथा जब तक मर न जाएँ, तब तक वेदान्त-चिन्तन करते रहें। यह सब कुछ ईश्वर है। वही ब्रह्म है। यदि नाम और रूप हटा दिये जायँ, तो सब एक है। सारे भेद नाम और रूप के कारण हैं। जिस रूप में हम आपको देख रहे हैं, आप हमें देख रहे हैं, यह ब्रह्म नहीं है। इसमें तो विकृति है, इसके पीछे जो आधार है, वह ब्रह्म है। आचार्यगण बहुत बार सोने का उदाहरण देते हैं। सोने से विभिन्न जेवर बने हुए हैं, जिसे माताएँ पहनती हैं। ये जेवर हजारों प्रकार के होंगे। किसी एक व्यक्ति के लिए संभव नहीं है कि वह हर प्रकार के जेवर के बारे में जान ले। पर यदि उसको बता दिया जाय कि ये हज़ारों प्रकार के दिखते हैं, नाम-रूप भिन्न हैं, लेकिन असल तो सोना ही है। यदि उसमें सोने को जान लिया, तो जानने को बचा ही क्या? सब कुछ जान लिया गया। वह सोना है, केवल उसके नाम-रूप में परिवर्तन आया है। व्यक्ति ने उसको विकृत किया है। उसी सोने से अँगूठी, हाथ के बाजूबन्द, पैर और कान के जेवर बने हैं। जेवर में भिन्नता है, पर उसका मूल तत्त्व एकमात्र सोना ही है। जब सोना ही है, तब हम स्वर्ण का चिन्तन करने लगे। तो प्रश्न था कि – **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वं इदं विज्ञातं भवति इति** – किसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है? ऋषि कहते हैं – जैसे सोने को जान लेने पर सोने के सभी आभूषणों के विषय में जान लिया जाता है। उसी प्रकार इस सृष्टि के आधार को जान लेने पर जानने के लिए बचा ही किया? सब कुछ हमने जान लिया। इस सृष्टि का आधार क्या है? वही आधार है जिसमें सब कुछ है। इस पृथ्वी से लेकर आकाश तक का आधार वह ब्रह्म ही है, जो अव्यय, सूक्ष्म, और सर्वगत है, जो नित्य है तथा भूतयोनिम् – सब कुछ जहाँ से उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म हमारे भीतर ही है। हम भी उसके अंश हैं। उस आधार को अगर हमने जान लिया, अपने अन्तःकरण में एकबार उस ब्रह्म का अनुभव कर लिया, तो सारा जगत ब्रह्ममय दिखेगा। स्वामी विवेकानन्द जी के एक गुरुभाई थे स्वामी शिवानन्द जी महाराज। वे बहुत बड़े

महापुरुष थे। वे बड़े विद्वान् थे, संस्कृत के पंडित थे। विवेकानन्द के गुरुभाई का कहना ही क्या ! उनके एक शिष्य थे, जिनके चरणों में दो वर्ष तक बैठकर पढ़ने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम लोगों को शास्त्र आदि वही पढ़ाते थे। वे शास्त्रों के बहुत विद्वान् थे। आज से कोई ७०-८० साल पहले की बात है। तब वे युवक थे और संन्यासी होने आए थे। महापुरुष महाराज स्वामी शिवानन्द जी उस समय बेलूड़ मठ में रहते थे। युवक का संन्यास नाम स्वामी बोधात्मानन्द था, वे दूसरी जगह रहते थे। उनके मन में ऐसा लगा कि छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** (३/४/१) – ब्रह्म ही सब कुछ है। तो सभी भूतों में, प्राणियों में ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। वही साधना थी। तब उन्होंने अपने गुरु स्वामी शिवानन्द जी को एक पत्र लिखा – महाराज, मैं सभी भूतों में ब्रह्म के दर्शन करना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए और मेरा मार्गदर्शन कीजिए। उपनिषदों में भी लिखा है और ठाकुर ने भी स्वामीजी से कहा कि अरे, उससे भी ऊँची स्थिति है – सभी भूतों में ब्रह्म के दर्शन। उन्होंने स्वामी शिवानन्द महाराज को बड़ा पाण्डित्य दिखाकर यह पत्र लिखा था। स्वामी शिवानन्द महाराज ने पत्र का उत्तर एक पोस्टकार्ड में लिखा – तोमार चिट्ठी पाइलाम। जतोखन तोमार निजेर हृदये ब्रह्मेर अनुभूति होच्छे ना, ततोखन सर्वभूतेर ब्रह्मदर्शन कोरिते पारिबे ना। सुतरां दीक्षासमय जहा बोलिया दियेछी अभ्यास कोरे निजे हृदयेर ब्रह्म-अनुभूतिर चेष्टा करो। निजेर हृदये ब्रह्मदर्शन ना होआर पर्यन्त सर्वभूते ब्रह्म देखिते पारिबे ना। – 'तुमने लिखा है कि तुम सर्वभूतों मे ब्रह्मदर्शन करना चाहते हो। यह अच्छी बात है। किन्तु यह जान कर रखो कि जब तक अपने अन्तःकरण में ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती, प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन नहीं कर सकेगा। इसलिए दीक्षा के समय जो ध्यानादि का उपाय मैंने तुम्हें बताया है, उसका अभ्यास करके अपने हृदय में ब्रह्म की अनुभूति करने का प्रयत्न करो।' यह इस मन्त्र का तात्पर्य है। उपनिषद् पढ़ लिया पर पढ़ने से क्या होता है? हमें सदा याद रखना चाहिए कि धर्म या आध्यात्मिकता सदैव उत्तम पुरुष में ही होते हैं। कभी अन्य पुरुष में नहीं हो सकते हैं। उत्तम पुरुष में अर्थात् मेरे द्वारा। यह मन्त्र मेरे लिए है, ऐसा जब मैं विचार करूँगा तो इसकी कठिनाई दूर हो जाएगी। मेरे लिए इसमें क्या सन्देश है? मेरे लिए इसमें यही सन्देश है – जब ऋषि कहते हैं कि ईश्वर या ब्रह्म विभु है, सर्वव्यापी है, सर्वगत है, । मैं सर्व के भीतर हूँ, तो वह मुझमें भी है। जब वह मुझमें भी है, तो क्या मैं उसका अनुभव कर पा रहा हूँ/ कर पा रही हूँ? नहीं कर पा रहा हूँ। तो उसके लिए क्या करें? उसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए, साधना करनी चाहिए। ऐसा यह ब्रह्म सबका आधार है। जो कुछ भी विश्व-ब्रह्माण्ड में नाम-रूपादि हमें दीख रहा है, उसका आधार यह ब्रह्म ही है। इसी ब्रह्म में, इसी सत्य पर सारे नाम-रूपों की रचना हुई है। यदि नाम-रूप को मिटा दिया जाय तो केवल ब्रह्म ही है। ध्यान-चिन्तन के द्वारा व्यक्ति मन से नाम-रूप को मिटा सकता है। नाम-रूप को मिटाने के बाद उसके मन में जो भाव उठेंगे, जो कल्पना आएगी, वह उसको विशाल-से-विशालतम बना देगी। नाम-रूप के प्रति जितनी रूचि कम होगी, जितना आकर्षण कम होगा, उतना ही हम राग-द्वेष से मुक्त होते जाएँगे। यह एकदम व्यावहारिक बात है।

'मैं शरीर हूँ' इस भाव के कारण ही सारा दुःख है। शरीर और मन को ब्रह्म समझने के कारण, बुद्धि को ब्रह्म समझने के कारण ही यह दुःख है। इन सबके पीछे जो चैतन्य है, वही नित्य है। यदि हम उस पर विचार करें, जितना हो सके उसका चिन्तन करें, तो अपने आप आसक्ति छूटने लगती है। यह संसार आता-जाता रहेगा। मानव शरीर का जो परम प्रयोजन है, जिसके लिए यह शरीर मिला है कि मृत्यु के पहले ही हम मृत्युंजयी हो जायँ। इसी देह में देह के रहते ही हम अनुभव कर लें कि 'मैं देही हूँ', देह नहीं। इसलिए उसमें वर्णन किया गया – **तपसा चीयते ब्रह्म** (मुण्डक-१/१/८) – ब्रह्म की तपस्या (संकल्प) के द्वारा यह सब अन्न-प्राण आदि उत्पन्न हुए। वह ईश्वर सर्वज्ञ है –

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्माद्-एतत् ब्रह्म नाम-रूपं-अन्नं च जायते ।।
(मुण्डक-१/१/९)

ईश्वर का तप ज्ञानमय है, उसको और कोई तपस्या नहीं करनी पड़ती है। दूसरे हम सामान्य लोगों को तपस्या करनी पड़ती है। ज्ञान ही उसका तप है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि – **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते**। (गीता-४/३८) – ज्ञान के समान इस पृथ्वी पर और कुछ नहीं है। आइए, अब ज्ञान को पकड़ें। किसी एक मन्त्र को लेकर जीवन में हम ज्ञान की तपस्या करें। यह ज्ञान की तपस्या क्या है? वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखने का प्रयत्न करना, वस्तु की वास्तविकता को जानने की चेष्टा करना, इसका ही नाम ज्ञान की तपस्या है। वस्तु की वास्तविकता को हम कैसे जानें? जैसे एक वीणा है। एक व्यक्ति जो वीणा और उसके तारों के विषय में नहीं जानता है। वह वीणा के तारों को इतनी जोरों से कस देगा कि वीणा ही नष्ट हो जाय। यह क्यों हुआ? अज्ञान के कारण। हम अपने दैनन्दिन जीवन में देखें। क्या यह शरीर हमें इसीलिए मिला है कि मुफ्त में मिल रहा हो तो देहस्य मोहं त्यक्त्वा भुंक्षस्व – देह का मोह त्याग कर खाते जाओ। शरीर इसलिए तो मिला नहीं था। सभी भोगों के सम्बन्ध में यही बात है। ज्ञान की तपस्या यहाँ भी है। बुद्धि-विवेक के द्वारा विचार करो, जो बुद्धि-विवेक भगवान ने हमें

दिया है। उस विवेक द्वारा विचार करके हमें देखना होगा कि कौन सी वस्तु, कौन से विचार, कौन सी क्रियाएँ हमको अनित्य के पीछे दौड़ा रही हैं। हमें जाना तो था नित्य के पीछे, जिसे नित्यं विभुं बताया गया है और हम दौड़ रहे हैं अनित्य के पीछे। जब हम उस अनित्य के पीछे दौड़ेंगे तो क्या होगा? तब हम नित्य से छूट जाएँगे। तो फिर वही होगा, जो अभी तक हुआ है। जीवन में सब प्रकार की असुविधाएँ, कष्ट होती रहेंगी। नित्य के पीछे जाने से हम सुख-शान्ति, आनन्द प्राप्त करेंगे, मुक्त होंगे। ऋषि कहते हैं ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद् है, सब कुछ जानता है, उससे कुछ छिपा नहीं है। **ज्ञानमयं तपः** – उसका तप ज्ञानमय है। केवल संक्षेप में कुछ चीजें आपको बता रहा हूँ। क्योंकि ६५ मन्त्रों का विस्तृत विवरण तीन प्रवचनों में संभव नहीं है। मैं उसका अधिकारी भी नही हूँ। पर जो हमारे लिए उपयोगी है, उसे हम देख सकते हैं। प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड को इस प्रकार हमने समाप्त किया। कुछ मन्त्रों पर सामान्य विचार हुआ। प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में हमने क्या पाया? एक तो हमने पाया कि ब्रह्मविद्या किसी की बपौती नहीं है। गृहस्थ भी उतना ही अधिकारी है, जितना कि एक संन्यासी। प्रश्न है कि हम चाहते क्या हैं? अगर हम सत्य को जानना चाहते हैं, तो आप भी उसके अधिकारी हैं। इसलिए आपको हमको सृष्टि नहीं, दृष्टि बदलनी है। आप अपना घर छोड़कर संन्यासी न हो जायँ। संन्यासी को गृहस्थ-धर्म पालन करने की आवश्यकता नहीं। सबको अपने स्थान पर रहकर दृष्टि बदलनी है। दृष्टि बदलकर क्या देखेंगे? उपनिषद् किस सत्य की बात कह रहा है? मुण्डक उपनिषद् हमसे कहता है कि क्या तुम सोचते हो कि विश्व को किसने बनाया? संसार कहाँ से आया? शान्त क्षणों में या विचार के क्षणों में किसी भी जिज्ञासु के मन में यह बात आती है। मुण्डक उपनिषद् निःसंदिग्ध रूप से यह घोषणा करता है कि उस ब्रह्म से, जैसे मकड़ी अपना जाला बनाकर निगल लेती है, उसी ईश्वर से यह सृष्टि निकली है। वह ईश्वर कैसा है? वह ईश्वर नित्य है। नित्य है तो विभु है, सर्वव्यापी है। मैं भी तो सर्व के भीतर ही हूँ। सर्व के बाहर तो नहीं हूँ। मेरे भीतर भी वह नित्य है। क्योंकि ईश्वर सारे संसार में है। मैं भी संसार का हूँ, इसलिए मैं भी ईश्वर में ही हूँ। मेरे भीतर भी वह नित्य है। वह नित्य सूक्ष्म है, इसलिए इन आँखों से नहीं दिख रहा है। हम ऐसी दृष्टि प्राप्त करें जिससे ईश्वर के दर्शन हो सके।

वह दृष्टि है – चित्तशुद्धि – सर्वथा विशुद्धचित्त। ऋषियों की शिक्षा पद्धति को देखिए। वे कहते हैं, यह सूक्ष्म-दृष्टि विभिन्न यज्ञों के अनुष्ठान आदि से अर्थात् सकाम उपासना से प्राप्त नहीं हो सकती। यज्ञ या उपासना से केवल स्वर्गादि दिव्यलोक ही प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु पुण्य समाप्त होते ही उन जीवों को फिर से इस पृथ्वी पर आना पड़ता है। ऋषि अंगिरा महागृहस्थ शौनक को यही बात समझा रहे हैं। वे कहते हैं – **प्लवा हि एते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तम् अवरं येषु कर्म।** मुण्डक–१/२/७ – हे शौनक, यह जो बात मैंने तुम्हें बतायी है कि यज्ञादि के द्वारा तुम उस स्वर्गलोक में जाओगे। याद रखना, यह यज्ञरूपी नाव अदृढ़ाः – कमजोर है। तुम उससे भवसागर को पार करना चाहते हो। यहाँ से नाव में तुम अमेरिका, ईंग्लैंड जाना चाहते हो, किन्तु जिस नाव में बैठे हो, वह कमजोर है, तो वह तुम्हें बीच में ही डूबा देगी। यह यज्ञ, यह पुण्य-कमाई, जैसे कुँआ खुदवा दिया, धर्मशाला बनवा दिया, ये सब ठीक हैं, इनको करो, पर जानकर रखो कि ये अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। ये तुम्हारे विकास में सहायक हैं, किन्तु ये सर्वस्व नहीं हैं। सकाम-यज्ञ के सभी विधान नीची श्रेणी के कर्म हैं, क्योंकि ये अधिक-से-अधिक तुम्हें स्वर्ग तक पहुँचाएँगे। स्वर्ग तक पहुँच कर पुण्य क्षीण होने पर **जरा-मृत्यु पुनरेवापि यान्ति** – फिर से जरा-मृत्यु के चक्कर में पड़ना पड़ता है। उतना ही नहीं, मनुष्य-योनि से नीची योनि में ये जीव जा सकते हैं – **तेन आतुराः क्षीण लोकाः चवन्ते**। इसलिए शौनक, तुमने यह सब बहुत कर लिया। अब कर्मकाण्ड के चक्कर में मत पड़ो। अनासक्त कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होती है। इसकी पहचान क्या है? इसकी पहचान है – कर्मफल के प्रति अनासक्ति। यज्ञ अवश्य करो, पर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग के प्राप्ति की आशा मत रखो। शौनक को ऋषि कह रहे हैं कि देखो, यज्ञादि में मत रुक जाओ। क्यों मत रुक जाओ? क्योंकि यह अपरा विद्या है। यज्ञ परा विद्या नहीं है। पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन हैं। जैसे आप मेरे हाथ-पैरों में एक क्वींटल सोने की जंजीर डाल दें या लोहे की जंजीर डाल दें। किन्तु, बन्धन तो दोनों ही है। एक क्वींटल सोने की जंजीर भी मुझे उतनी ही अयोग्य कर देगी, पंगु बना देगी, जितनी लोहे की। पुण्य है सोने की जंजीर और पाप है लोहे की जंजीर। उपनिषद् कहते हैं कि इन दोनों से छुटो। न पुण्य रहे न पाप। इन पाप-पुण्य से ऊपर जो तुम्हारा स्वरूप है, वह आनन्दमय और चैतन्मय

है। उस स्वरूप के संबंध में विचार करो। यज्ञ के विषय में यह बात समझ लो कि इसकी सीमा स्वर्गादि तक ही है। जिस दिन मन में यह विचार आएगा, हम अनासक्त होते जाएँगे, तब यही यज्ञ आदि मुक्ति के साधन हो जायेंगे। किन्तु, उस ब्रह्मज्ञान के लिए कभी भी हमको केवल अपनी बुद्धि पर विश्वास नहीं करनी चाहिए। क्योंकि हमारा मन अभी अशुद्ध है। इसलिए सत्संग करना चाहिए, सद्गुरु के पास जाना चाहिए – **गुरुम् एव अभिगच्छेत्**। अभी इतना ही समझ लें। एक और बात आपके सामने रखूँ। हम श्रुति या वेदान्त को प्रमाण क्यों मानें? इसमें लिखा है इसलिए मान लें क्या? आचार्यों ने इसका मनोवैज्ञानिक उत्तर बताया है। परम पूजनीय स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज, जो रामकृष्ण संघ के प्रेसीडेन्ट थे, जिनसे यह उपनिषद् पढ़ने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे बहुत बड़े विद्वान् और ब्रह्मज्ञ पुरुष थे। उन्होंने कहा था – जिस सत्य को तुम इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से जान सकते हो, परीक्षा कर सकते हो, उसके लिए कभी भी वेदान्त का आश्रय मत लेना। इन्द्रियगम्य सत्य को जानने के लिए तुमको वेद-उपनिषद् नहीं पढ़ना चाहिए। लंगड़ा आम मीठा होता है कि चौसा आम मीठा होता है, किस जमीन में आम की फसल अच्छी होगी, इसके लिए वेद-उपनिषद् मत पढ़ो। स्वयं प्रयोग करके देखो। तुम अपनी इन्द्रियों से स्वयं अनुभव कर सकते हो। तुम बुद्धि से समझ सकते हो। तुम मन से अनुभव कर सकते हो। किन्तु जिसको इन्द्रियों द्वारा जानने का कोई उपाय नहीं है। जैसे – पुनर्जन्म। इसे हम मन-बुद्धि और इन्द्रियों से नहीं जान सकते हैं। नहीं जान सकते हैं, तो न मानें। फिर वही अनीश्वरवादी होकर, नास्तिक होकर इसी संसार में पड़े रहें। नास्तिक कब तक रहेंगे? जब तक शरीर ठीक चल रहा है तब तक। जहाँ दु:ख आया, शरीर वृद्ध हुआ, तब नास्तिकता कोई आश्रय नहीं दे पायेगी तथा जीवन महान् कष्टमय और अशान्त हो जाएगा। जिस सत्य को हम शरीर-मन-बुद्धि आदि के द्वारा नहीं जान सकते, उसको जानने के लिए क्या हमें शास्त्रों, उपनिषदों का आश्रय लेना चाहिए? उपनिषद् कहते हैं कि एक नित्य वस्तु है, इसको मान लेना चाहिए। मानकर क्या करना चाहिए? मानकर उपनिषद् में जो रास्ता बताया गया है, उसके अनुसार चलना चाहिए। उसका प्रयोग करके अनुभव करना चाहिए। मौन रखकर चुपचाप शान्ति से बैठ जाना, उस दिशा में कुछ न करना, उपनिषद् के अध्ययन का प्रयोजन नहीं है। चुप बैठने से जीवन में कोई लाभ नहीं होगा। पहली बात हमने उस सत्य को स्वीकार कर लिया। स्वीकार करने के पश्चात् अब दूसरी बात उस सत्य के अनुभव करने के क्या उपाय हैं? ये भी इसमें बताया गया है। उन उपायों का पालन करना पड़ेगा। उपनिषदों में बताए गए तथ्यों को उड़ा नहीं देना चाहिए। उस पर बुद्धि से विचार करना चाहिए। विचार करके बुद्धि से जितनी परीक्षा करनी थी, उतनी हमने कर लिया। जहाँ बात समझ में आ गयी कि – **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** (तैत्तिरीय-२/९) – जहाँ से वाणी लौट आती है अर्थात् वर्णन नहीं कर पाती है, जो मन से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सत्य यहाँ समाप्त हो गया। केवल हमारी इन्द्रियों से, मन-बुद्धि से जानने वाला सत्य ही सत्य है, ऐसा सोचना बुद्धिमानी की बात नहीं है। उसके बाद भी सत्य का अस्तित्व है। १५०-२०० साल पहले जो भौतिक विज्ञानी थे, वे इन सत्यों पर विश्वास नहीं करते थे। वे नहीं जानते थे कि एटम के बाद भी कुछ है। अगर वे कहते कि दुनिया का अन्तिम सब कुछ अणु ही है, अणु को भंग नहीं किया जा सकता है, तो आगे विज्ञान की प्रगति नहीं हो सकती थी। जो अभी का सत्य है, इसके पीछे भी कोई रहस्य है। इन्द्रियों आदि के द्वारा जो सत्य जाना जाता है, वह अपरा विद्या का सत्य है। अत: कहा गया है – **द्वे विद्ये वेदितव्ये** – दोनों विद्याओं को जानो। अपरा विद्या को पढ़कर उसके सत्य को जान लो। उसे जानकर वहीं मत रुको। यह समझो कि इससे भी अधिक और कोई तत्त्व जानना शेष है। वह क्या है? वह तत्त्व है – परा-विद्या। उस पराविद्या को कैसे जानें? ऋषि कहते हैं – **अथ परा यया तद् अक्षरम् अधिगम्यते** (मुण्डक-१/१/५) – जिसके द्वारा उस अक्षर को जाना जाता है, उसका अनुभव किया जाता है, उसका उपाय उपनिषद् बताता है। उस उपाय की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। कल थोड़ी सी चर्चा उस साधना के सम्बन्ध में करेंगे। उसमें बहुत सी अच्छी बातें बतायी गयी हैं। जिसमें कहते हैं कि तुम यहीं मुक्त हो जाओगे। –

> **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।**
> **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि**
> **तस्मिन्दृष्टे परावरे।।** (मुं. २/२/८)

उसका अनुभव कर सभी हृदय-ग्रन्थियों से, सभी कुंठाओं से, मुक्त हो जाओगे। वैकुण्ठ – **विगत कुंठा यस्य सः वैकुण्ठः** – सारी कुंठाएँ मिट जाएँगी। यहीं वैकुंठ का अनुभव करने लगोगे। यही इस उपनिषद् का तात्पर्य है। आगे की चर्चा आगामी कल होगी। धन्यवाद। ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ के सान्निध्य में

स्वामी निर्वाणानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ को पहले पहल मैंने काशी सेवाश्रम में देखा था। जहाँ तक मुझे याद है यह १९१२ ई. के नवम्बर मास के शुरुआत की घटना है। कालीपूजा के दूसरे दिन[१] माँ सेवाश्रम आयीं थीं। माँ के आने के कुछ ही दिनों पूर्व मैं संघ में सम्मिलित होने हेतु सेवाश्रम में आया था। यहाँ आने के पहले ही मैं श्रीरामकृष्ण-वचनामृत और अन्य सूत्रों से माँ के बारे में जानता था। उस समय महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी वहीं – सेवाश्रम में थे। माँ अद्वैत आश्रम के पास बागबाजार के किरन दत्त के मकान 'लक्ष्मी निवास' में ठहरी थीं। उस दिन माँ ने सेवाश्रम में घूम-घामकर सब कुछ देखा था। सेवाश्रम में साधुओं को नारायण-ज्ञान से रोगियों की सेवा करते देख माँ बड़ी प्रसन्न हुई थीं। उन्होंने कहा था, "देखती हूँ, ठाकुर स्वयं ही यहाँ विराज रहे हैं और मेरे लड़के प्राणपण से रोगियों की सेवा कर उन्हीं की पूजा कर रहे हैं।"

सेवाश्रम में काफी समय बिताकर माँ लक्ष्मी निवास लौट गयीं। थोड़ी देर बाद ही माँ ने चारु महाराज (स्वामी शुभानन्द) के पास दस रुपयों का एक नोट भिजवाया। चारु महाराज काशी सेवाश्रम के संस्थापकों में से एक हैं। वैसे उस समय वे चारु बाबू – चारुचन्द्र दास थे, संन्यासी नहीं हुए थे। रुपया लेकर आनेवाले ने बताया, "माँ सेवाश्रम का काम देखकर बहुत खुश हुई हैं, इसीलिए उन्होंने ये रुपये भेजे हैं। माँ ने यह भी कहा है कि 'सेवाश्रम देखकर मुझे इतना अच्छा लगा है कि यहीं पर स्थायी रूप से रह जाने की इच्छा हो रही है'।" यह बात सुनकर महाराज, महापुरुष महाराज, हरि महाराज, केदार बाबा, (स्वामी अचलानन्द), चारु बाबू इत्यादि के आनन्द का ठिकाना न रहा। मास्टर महाशय भी उस समय काशी में ही थे। सेवाश्रम के काम को वे साधुओं के लिए उपयुक्त नहीं मानते थे। सेवाश्रम का काम उनके मन के अनुरूप नहीं था। उनकी धारणा थी कि रोगियों की सेवा, अस्पताल चलाना आदि साधुओं का काम नहीं है। यह सब ठाकुर के भाव के अनुरूप भी नहीं है। साधु लोग केवल साधन-भजन लेकर रहेंगे। सेवाश्रम देखकर माँ का मन्तव्य और दस रुपये भेजने का उल्लेख करते हुए महाराज ने मास्टर महाशय से कहा, "आपने सब सुना न!" मास्टर महाशय ने कहा, "जब माँ कह रही हैं तब और क्या कहना! यह सब निश्चय ही ठाकुर का काम है – अब न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।"

उस बार माँ काफी दिन वाराणसी में रहीं। बीच बीच में वे अद्वैत आश्रम और सेवाश्रम में आकर पदधूलि दे जाया करतीं। महाराज प्रतिदिन सुबह उन्हें प्रणाम करने 'लक्ष्मी-निवास' जाते। उनके साथ कभी कभी हम लोग भी जाते। उन दिनों माँ से अधिक बातचीत न होने पर भी, संकेत मिलता कि मुझसे विशेष स्नेह करती हैं।

१९१४ ई. में दिसम्बर के अन्त में महाराज के निर्देशानुसार मैं सेवाश्रम से बेलूड़ मठ आया। उस समय माँ उद्बोधन में थीं। मठ लौट आने के बाद मैं माँ का दर्शन करने उद्बोधन गया। मठ आने के दो महीने पूर्व मैं बाढ़-राहत-कार्य के लिए वाराणसी से पश्चिमी बंगाल आया था। परिश्रम और अनियमितता के फलस्वरूप उस समय मेरा शरीर शायद थोड़ा दुर्बल-सा प्रतीत होता था। यह माँ की दृष्टि से छिपा नहीं। मुझे देखते ही वे खूब उद्विग्न तथा व्याकुल होकर बोलीं, "तुमने अपनी यह कैसी दशा बना रखी है?" मैंने कहा, "कुछ दिन बाढ़-राहत-कार्य में लगा रहा। वहाँ खाने-पीने का कुछ निश्चित नहीं था, इसलिए लगता है शरीर थोड़ा दुर्बल हो गया है।" माँ ने कहा, "थोड़ा नहीं, स्वास्थ्य खूब बिगाड़ लिया है। अब थोड़े दिन ठीक से खा-पीकर स्वास्थ्य को सुधार लो। तुम लोग ठाकुर के कितने काम करोगे! शरीर ठीक नहीं रहा, तो कैसे चलेगा?" मठ लौटते समय माँ ने दुबारा इस बात का स्मरण कराया। उस बार मठ में कई महीने मैं महाराज की सेवा में रहा। इन्हीं दिनों उत्तराखण्ड जाकर कुछ दिन तपस्या करने की प्रबल इच्छा मेरे मन में उठी। माँ उद्बोधन में थीं। वहाँ जाकर मैंने माँ से तपस्या के लिए जाने की अनुमति की प्रार्थना की। पहले तो माँ किसी तरह राजी ही नहीं हुईं। व्याकुल होकर बोलीं, "नहीं बेटा, तुम अल्पवयस्क हो। अभी तुम्हें तपस्या करने जाने की जरूरत नहीं। वहाँ कहाँ रहोगे, खाना कैसे जुटेगा?" पर मैं भी छोड़नेवाला न था। माँ से अनुमति के लिए विनती करता

१. वह ८ नवम्बर १९१२ ई. का दिन था। – सम्पादक

ही रहा। माँ फिर बोलीं, "नहीं बेटा, तुम्हें कष्ट होगा। तुम्हें तपस्या के लिए जाने की जरूरत नहीं।" माँ के स्वर से मानो चिन्ता और व्याकुलता व्यक्त हो रही थी। लेकिन मैं भी नाछोड़-बन्दा ठहरा। बारम्बार अनुमति के लिए विनती करता रहा। आखिरकार माँ ने कहा, "ठीक है बेटा, जब तुम तपस्या के लिए इतना व्याकुल हो रहे हो, तो कहती हूँ, तुम वाराणसी जाओ। वहाँ सेवाश्रम में रहोगे और बाहर से भिक्षा करके खाओगे। अन्यत्र कहीं नहीं जाओगे।" इस पर मैं बोला, "लेकिन माँ, तब मैं पैदल काशी जाऊँगा।" पहले तो वे इस बात पर राजी नहीं हुईं। बाद में मेरी विनती से राजी हुईं। विदा लेने से पहले माँ ने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, "बेटा, मैं तुम्हें खूब आशीर्वाद देती हूँ, तुम्हें सिद्धिलाभ हो।" पाँच-छह महीने बाद माँ का आशीर्वाद मस्तक पर धारण किये मैं पैदल वाराणसी की ओर रवाना हुआ। उस बार मैं सात-आठ महीने वाराणसी में था। वहाँ से बेलूड़ मठ लौटने के बाद मैं फिर से महाराज की सेवा में नियुक्त हुआ।[१]

महाराज बलराम-मन्दिर में रहना पसन्द करते थे। वे प्राय: ही मठ से बलराम-मन्दिर आते। बलराम-मन्दिर में महाराज के पास रहने का सुयोग मिलने पर मैं वहाँ से प्राय: ही उद्बोधन जाया करता। इसलिए उस समय माँ को प्रणाम करने और दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्रतिदिन ही मिला करता। माँ से बातचीत भी होती। माँ का कण्ठ-स्वर बड़ा ही मधुर था। दूसरे लोगों के सामने माँ लम्बा घूँघट काढ़े चेहरा ढँके रहतीं, लेकिन जहाँ तक मुझे याद है, मैंने कभी माँ का दर्शन इस प्रकार नहीं किया है। मैंने माँ को जब कभी देखा है, उनके श्रीमुख के दर्शन का सौभाग्य मुझे मिला है।

माँ की अन्तिम बीमारी के समय महाराज भुवनेश्वर में थे। मैं भी उनकी सेवा में वहीं पर था। माँ की महासमाधि के दिन २१ जुलाई, १९२०, को मंगलवार था। रात के डेढ़ बजे जब मैं महाराज के कमरे में गया तो देखा कि वे एक चादर से पूरा शरीर ढँककर एक आरामकुर्सी पर बैठे हुए हैं। चेहरा बड़ा गम्भीर था। मुझे देखकर महाराज बोले, "सुज्जू, इस समय कितनी रात हुई है? न जाने क्यों माँ के लिए मन कैसा हो रहा है! वे कैसी हैं, कौन जाने!" मैंने उनसे पूछा, "आप सोयेंगे नहीं?" महाराज ने कोई उत्तर नहीं दिया। महाराज को इस गम्भीर भाव में देखकर और माँ के लिए उनकी चिन्ता समझकर मैं उनका मन थोड़ा हल्का करने के उद्देश्य से बोला, "हुक्का सजाकर लाऊँ, महाराज?" वे कोई उत्तर दिये बिना यथावत् चुपचाप बैठे रहे। उनका भाव देखकर मुझे कुछ और पूछने का साहस नहीं हुआ। धीरे धीरे मैं उनके कमरे से बाहर चला आया। अगले दिन महाराज थोड़े बेचैन-से दिखे। अन्य दिन सुबह वे थोड़ा घूमने जाते। उस दिन नहीं गए। सामने के बरामदे में टहलने लगे। उसी दिन डाकखाने से चपरासी एक टेलीग्राम ले आया। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) ने तार भेजा था, "गत रात डेढ़ बजे माँ ने उद्बोधन में देहत्याग किया है।" मुझे याद आया, पिछली रात उसी समय महाराज नींद से उठ बैठे थे और कहा था कि माँ के लिए मन कैसा हो रहा है! यह समाचार पाकर महाराज का चेहरा एक अव्यक्त पीड़ा से बोझिल हो उठा। वे लेट गए। थोड़ी देर बाद फिर उठ बैठे। बोले, "मैं हविष्यान्न खाऊँगा। माँ के जितने भी शिष्य हैं, सब तीन दिन हविष्य करेंगे। पादुका नहीं पहनेंगे।" तीन दिन उन्होंने किसी के साथ बातचीत नहीं की; बारह दिनों तक केवल हविष्यान्न खाया और पादुका नहीं पहना। एक दिन वे बोले, "इतने दिनों तक पहाड़ की छाँव में था।"

सुना है, माँ के शरीर का दाह हो जाने के बाद महापुरुष महाराज ने उपस्थित साधु-भक्तों से कहा था, "सती के शरीर का एक एक अंग लेकर सारे देश में ५१ शक्तिपीठ बन गये। उन्हीं सती की पूरी देह आज बेलूड़ मठ की मिट्टी में मिल गयी। सोचकर देखो, बेलूड़ मठ कितना महान् तीर्थ है।"

बेलूड़ मठ में गंगा के किनारे जो तीन मन्दिर हैं (स्वामीजी का, ब्रह्मानन्द जी का और माँ का) उनमें से केवल माँ के मन्दिर का द्वार, अन्य मन्दिरों से अलग गंगा की ओर है। माँ को गंगा से बड़ा लगाव था। माँ गंगास्नान करना, गंगा-दर्शन करना और गंगा के किनारे निवास करना बहुत पसन्द करती थीं, इसीलिए माँ के मन्दिर का मुख गंगा की ओर किया गया है। मानो माँ सदा-सर्वदा गंगा-दर्शन कर रही हैं।

महाराज कहते, "माँ को पहचानना बहुत कठिन है। घूँघट में साधारण स्त्रियों की तरह रहती हैं, परन्तु साक्षात् जगदम्बा हैं। यदि ठाकुर न पहचनवा देते, तो क्या हमीं लोग माँ को पहचान पाते? एक भक्त ने एक बार मुझे बताया था, माँ ने स्वयं ही उससे कहा था, "मैं ही सीता हूँ।" ❑❑❑

१. स्वामी निर्वाणानन्द जी तपस्या के लिए १९१५ ई. अगस्त महीने में वाराणसी गए थे और १९१६ ई. ठाकुर की तिथिपूजा के पूर्व सम्भवत: फरवरी मास के अन्त में मठ लौटे थे। – सम्पादक

गीता में साधना की रूपरेखा (३/३)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी '०३ अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

हमने देखा कि हम स्वयं की सत्ता में, स्वयं के अस्तित्व में स्वयं के बोध में 'अपने प्रियतम से एक हैं, अभिन्न हैं' – ऐसे स्वरूप में आनेवाले आनन्दानुभव को ही हम लौकिक व्यवहार में – काव्य-कथा-उपन्यासों में भी – 'प्रेम' ही कहते है। प्रियतम के साथ इस तरह का आनन्द-प्रचुर एकत्व-बोध या ऐक्य का आनन्द-बोध को ही प्रेम कहा जाता है ! यही तो प्रेम की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है, यही तो प्रेम का 'लक्षण' है, 'स्वरूप' है। पर ऐसे उत्कट ऐक्यानन्द का अनुभव 'बोध' या 'ज्ञान' हो, तो भी वह उसे बोध या ज्ञान शब्द के द्वारा ठीक ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता, इसीलिये हम सहज-स्फूर्त भाव से इसे 'प्रेम' कहते हैं।

गीता ने भी यही किया है ! पर लौकिक ऐक्यानन्द के अनुभव का 'विषय' पार्थिव प्रियतम होता है, जबकि इस अलौकिक ऐक्यानन्द के अनुभव का विषय अपार्थिव प्रियतम है, इसीलिये प्रभु ने इस अनुभव को 'प्रेम' न कहकर 'भक्ति' कहा है, क्योकि, 'अपार्थिव प्रेम' का अर्थ है भक्ति !! और उस ऐक्यानन्द के अनुभव में से 'विषयी-विषय' की, 'मैं-तुम' की यथार्थता का ज्ञान अब अन्ततः अत्यन्त कम हो चुका है, इसीलिये प्रभु उस भक्ति को जान-बूझकर 'परा-भक्ति' कहते हैं !!! 'ब्रह्मभूत' होने के बाद उस 'ब्रह्मानुभव' को – उस ज्ञानलक्षण, ज्ञानस्वरूप ऐक्यानन्द के अनुभव को सतत, मन में बार बार दुहराने के अभिनिवेश या आग्रह के कारण धीरे धीरे 'प्रसन्नता', 'आकांक्षा-हर्ष-शोकशून्य', 'सर्वभूतों में समभाव' होते होते अब अन्त में उस अनुभव की ही 'पराकाष्ठा' आ जाती है, इसीलिये भगवान कहते हैं – **मद्भक्तिं लभते पराम्** – ''अन्त में उस साधक को मेरी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है। प्रभु के ही शब्द हैं –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।

– ८ –

शिष्य - अहा, उस साधक का कैसे महान् भाग्य है ! ऐसी परमानन्दमय अवस्था मुझे प्राप्त हुई, तो मैं स्वयं को धन्य धन्य समझूँगा, कृतार्थ समझूँगा। गुरुदेव, मुझे तो इससे आगे कुछ भी नहीं चाहिए।

श्रीगुरु – तुम्हें भले ही नहीं चाहिए, पर भगवान श्रीकृष्ण जिस साधक का आदर्श सभी साधकों के नेत्रों के समक्ष रख रहे हैं, उस 'पराभक्ति' प्राप्त कर चुके उपर्युक्त साधक को तुम्हारे समान बिल्कुल भी नहीं लगता।

शिष्य – अर्थात्? उसे यह अवस्था, यह पराभक्ति तुच्छ लगती है?

श्रीगुरु – 'तुच्छ' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है, उचित नहीं है। उसे वह 'अधूरी' लगती है, 'कम' लगती है, 'अपूर्ण' लगती है, अत: वह 'तृप्त', 'कृतार्थ' नहीं होता।

शिष्य – इसे अद्भुत ही कहना होगा। पर गुरुदेव, यह ऐसा तीव्र ऐक्यानन्द-बोध इतनी प्रबलता के साथ स्वयं की पूर्ण सत्ता में अनुभव होने के बावजूद उस महाभाग्यवान साधक को 'तृप्ति' क्यों नहीं होती? प्रभु से उत्कट रूप में होनेवाले मिलन की उस आनन्दमय अपरोक्षानुभूति में उसे भला क्या कमी लगती होगी?

श्रीगुरु – 'कमी'? सुनो। उस चरम अनुभूति में 'ऐक्य', 'आनन्द' व 'अपरोक्षता' – तीनों 'अब' उसे कम लगते हैं। स्वाभाविक ही यह अनुभूति उसे अब 'यथेष्ट' उत्कट नहीं लगती।

शिष्य – प्रभो, मुझे यह अच्छी तरह समझाइए।

श्रीगुरु – उसको समझने के लिये, भलीभाँति ग्रहण करने के लिए तुम उस पराभक्ति-प्राप्त आदर्श साधक की, वर्तमान मनोस्थिति से यथाशक्ति समरस होकर, मेरे कथन को ठीक से सुनो। उसकी वर्तमान की मनोवस्था कैसी है? – अब उसे 'अपरिमित' रूप से यह अनुभव हो रहा है कि 'मैं' सत्य भी नही हूँ, मिथ्या भी नहीं हूँ: 'मैं' हूँ ही नहीं, है तो केवल वह सर्व-स्वरूप प्रभु ही। और इसीलिये उस स्व-स्वरूपभूत प्रभु में 'पूरी तौर से' डूब जाने की, 'पूरी तौर से' एक हो जाने की परम इच्छा, परम लालसा अब उसकी अन्तरात्मा में चरम आवेग के साथ स्फुरित होने लगती है। (भक्ति की भाषा में इसे पूर्ण शरणागति या पूर्ण आत्मसमर्पण की अभिलाषा कहा जा सकता है)। वैसे यह आकांक्षा उसके लिए 'नवीन' नहीं है ! इसी आकांक्षा ने तो उसे श्रीगुरु के चरण-कमलों में (घसीटते हुए) लाकर, उनके बताये हुये सत्यों पर – सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु पर – 'मैं-मेरा नहीं, बल्कि प्रभो, तू-तेरा ही' पर 'विश्वास' रखकर कर्मनिष्ठा का आचरण करने में लगाया। कर्मनिष्ठा के कारण वह विश्वास 'अनुभव' का रूप लेने लगा, यह खिंचाव भी प्रबल होने लगा था और

उससे विक्षेपों का शमन कराकर ध्यानयोग द्वारा प्रभु में अधिक-से-अधिक निमग्न होने की साधना करवा रहा था। अन्त में वह उन प्रभु में प्रतिष्ठित (ब्रह्मभूत) हुआ, तब यह आकांक्षा और भी अधिक सुदृढ़ हुई। और अब चित्त परम शुद्ध होकर 'मैं सत्य भी नहीं, मिथ्या भी नहीं; मैं हूँ ही नहीं, है तो वह सर्वस्वरूप प्रभु ही' यह मूलभूत सत्य – परम उत्कटता सहित अनुभव में आने के कारण उस आकर्षण ने, उस ऐक्याकांक्षा ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है।

इस कारण उसके पंचप्राण, उसकी अन्तरात्मा परम व्याकुल हो गयी है, खूब छटपटा रही है, तड़प रही है। परन्तु इतना प्रयत्न करने के बाद भी, उस एकता के चित्त में इतना उथल-पुथल मचाने पर, भी उस अभेदानुभूति की इतनी आवृति करने के बाद भी, 'चिर' ऐक्य, 'चिर' अभेद साधित होकर प्राण शीतल क्यों नहीं होते, अन्तरात्मा शान्त क्यों नहीं होती, 'और' की तृष्णा समाप्त क्यों नहीं होती – यह देखने पर अब उसे एक प्रचण्ड रुकावट का तीव्रता से भान होने लगता है। वह रुकावट है – 'मैं प्रभु से एक हूँ' यह ऐक्यानुभव प्राप्त करनेवाला 'मैं'! अब दूसरे किसी भी स्थूल या सूक्ष्म 'विक्षेप' का भान नहीं होता। 'अब' भान होता है सिर्फ एक ही परम सूक्ष्म विक्षेप का – 'मैं प्रभु से एक हूँ' – इस ऐक्यानुभूति अर्थात् अद्वैत-'वृत्ति' का। इस 'मैं' की रुकावट अभी तक अनुरूप मात्रा में ज्ञात थी ही, नहीं थी ऐसा नहीं है, पर अब वह 'परम' तीव्रता के साथ 'एकमेव' बाधा के रूप में अनुभव होने लगी है। हम स्वयं ही अपने तथा प्रभु के सच्चे मिलन के बीच में आ रहे हैं – यह बात अब परम तीव्रता के साथ समझ में आने लगी है। इसीलिये कहा है कि, उस उत्कट अनुभूति का 'ऐक्य' 'अब' उसे 'कम' लगने लगा है।

शिष्य – हाँ। ठीक ही तो है। पर उस अनुभूति का 'आनन्द'? वह भला 'कम' क्यों लगेगा?

श्रीगुरु – देखो, चित्त अब तक परम शुद्ध अर्थात् परम निर्मल-निस्तरंग और इसीलिए परम 'पारदर्शक' हो चुका होता है, इसीलिये उस चित्त-तल के सत्-चित्-आनन्द प्रभु अब परम 'स्पष्ट' दिखाई देते हैं। स्पष्ट दिख रहा है कि प्रभु सद्घन हैं – मेरी और जगत् की सत्ता प्रभु ही हैं, प्रभु चिद्घन हैं – मेरे तथा जगत् के समस्त जीवों का चैतन्य प्रभु ही हैं तथा प्रभु आनन्दघन हैं – मुझे होनेवाला 'यह' आनन्द, जगत् में सभी को होनेवाले सभी आनन्द प्रभु ही हैं। स्पष्ट दिखाई देता है कि मेरा अभी का तथा जगत् का कोई भी आनन्द अर्थात् उस आनन्दघन का चित्त के आस्वादक-आस्वाद्य-आस्वादन-स्वरूपी द्वैत या अद्वैत वृत्ति का प्रतिबिम्ब है। स्पष्ट दिखाई देता है कि बिम्ब अलग है तथा प्रतिबिम्ब अलग है और इसीलिए स्पष्ट दिख रहा है कि बिम्ब की तुलना में प्रतिबिम्ब अर्थात् 'क:पदार्थ' है! – केवल 'कम' ही नहीं है!

शिष्य – भगवन्, आपका कथन कितना यथार्थ है! पर अपरोक्षता? – वह भला कम क्यों लगेगी?

श्रीगुरु – वस्तुत: यह तो अब तक तुम्हें स्वयं ही ज्ञात हो जाना उचित था। अरे, उस साधक को अपनी 'सम्पूर्ण' सत्ता में यह आनन्दमय ऐक्यानुभव हो रहा है, यह सच है और इसी कारण वह अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष लगता है, यह भी सच है, पर यह सत्ता कौन-सी है? इस ऐक्यानन्द के अनुभूति की 'विषयी' रूप वह सत्ता नहीं है क्या? वह सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु यह उस अनुभूति का विषय नहीं है क्या? और विषयी-विषय-बोध ही तो परोक्षता है – फिर वह 'विषयी' कितना भी सूक्ष्म-शुद्ध हो और वह 'विषय' जगत् या परमेश्वर कुछ भी कोई भी हो। अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप परब्रह्म में विषयी-विषय-बोध बिलकुल भी नहीं है, वह एकमेवाद्वितीय स्वयंज्योति ब्रह्म ही विषयी तथा विषय रूपों में भासमान होता है। उस बोधस्वरूप को – उस एकमेव ज्ञाता को भला कौन जान सकता है? उसके सिवा 'ज्ञाता' ही नहीं है, इसीलिए ही तो वह कभी 'ज्ञेय' या 'विषय' बन ही नहीं सकता। इसीलिए उस साधक की यह 'अपरोक्ष' लगनेवाली 'अनुभूति' वस्तुत: परोक्ष ही है। और यह उस साधक को 'अब' परम स्पष्टता के साथ भान होने के कारण उसे वह नाम की 'अपरोक्षता' भी कम लगने लगे, तो इसमें क्या आश्चर्य?

शिष्य - समझ गया, भगवन्, अच्छी तरह से समझ गया। और इसीलिये 'इस' ऐक्य की आनन्दमय अपरोक्षानुभूति की वर्तमान परम उत्कटता भी अब उसे 'यथेष्ट' उत्कट नहीं लगती, यही बात है न?

श्रीगुरु – हाँ, ऐसा ही है।

शिष्य – यदि ऐसा ही है तो फिर यह 'कमी' कब और कैसे जायेगी? क्योंकि सुना था – "एक बार 'पराभक्ति' प्राप्त हुई, तो फिर पाने को अधिक कुछ नहीं बचता, फिर एकदम 'सच्चा' ब्रह्मलाभ" ही होता है। पर अभी तो दिख रहा है कि पराभक्ति का लाभ होने पर भी कृतार्थता का लाभ नही होता।

श्रीगुरु – ऐसा हमने कब कहा कि 'पराभक्ति' से कृतार्थता का लाभ नहीं होता? हमने तो केवल इतना ही कहा था कि पराभक्ति का अर्थ कृतार्थता नहीं है। हमने कहा था कि यथार्थ साधक को वह वैसी नहीं लगती और वैसी क्यों नहीं लगती, यह हमने दिखा दिया, बस इतना ही। तथापि यह सच है कि पराभक्ति का लाभ यदि कृतार्थता न हो, तो भी उस पराभक्ति से ही साधक को कृतार्थता का लाभ होता है।

शिष्य – गुरुदेव, वह कैसे?

श्रीगुरु – वही भगवान कृष्ण अब बता रहे हैं।

❖ (क्रमश:) ❖

सन्त रविदास की वाणी

डॉ. राम निवास
हिन्दी प्रवक्ता, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, अजमेर (राजस्थान)

हिन्दी साहित्य का पूरा एक काल खण्ड ही भक्ति से ओत-प्रोत है और वह स्वर्णयुग भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है। जब हम समाज में सत्य, अहिंसा, सदाचार और मानव मूल्यों की स्थापना की बात करते हैं, तो भक्तिकाल की ओर ही उन्मुख होते हैं। इस काल में वह सब प्राप्त है, जो आधुनिक काल की आपाधापी के माहौल में हमें आत्म-शान्ति दे सकता है। सगुण और निर्गुण साधना-पद्धति के द्वारा हम स्व-स्व सामर्थ्य के अनुसार परमार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। भक्तिकाल में कबीर के समान ही प्रसिद्ध सन्त रविदास का स्थान महत्वपूर्ण है। इन्होंने अपना पैतृक व्यवसाय करते हुए उच्च कोटि की भक्ति के द्वारा सन्त-समाज में ऊँचा स्थान पाया। इनका ईश्वर के प्रति अटल अनुराग और सच्चा प्रेम देखते हुए तत्कालीन समाज ने इन्हें सन्त-शिरोमणि की उपाधि दी थी।

निर्गुण निराकार ईश्वर के उपासक सन्त रविदास अन्य सन्तों की भाँति सत्य, पवित्रता और निष्काम भक्ति के पक्षधर हैं। जीव सांसारिक विकार – काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह के कारण भ्रमित हो जाता है। ये पंचविकार जीव और ईश्वर के बीच द्वैतभाव उत्पन्न करते हैं और जीव सन्मार्ग से हटकर कुपथगामी बन जाता है। वे कहते हैं कि अनन्य भक्ति ही सच्चा ईश्वर-प्रेम है, जिसमें पाँचों विकारों का अनुभव नहीं होता। यदि उसे थोड़ा ज्ञान या सिद्धि प्राप्त हो भी जाती है, तो वह बाजीगर के समान जगह जगह उसका प्रदर्शन करने लगता है और उस सिद्धि-चमत्कार से जो कुछ धन-अन्न आदि प्राप्त होता है, वह अपने परिवार के भरण-पोषण हेतु ले आता है। यह सब सांसारिक प्रपंच है, ईश्वरभक्ति नहीं। ईश्वर का सच्चा साधक ईश्वर के अलावा और किसी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। वह अपने शरीर का मोह भी त्याग देता है। ईश्वर की निर्मल भक्ति उसी को प्राप्त होती है, जो रात-दिन उन्ही के गहन प्रेम में डूबकर एकाकार हो रहा है –

सन्तो अनिन भगति यह नाहीं
जब लग सिरजत मन पाँचों गुन, व्यापत है या माहीं।
सोई आन अंतर कर हरि सों अपमारग को आनै
काम क्रोध मद लोभ मोह की, पल पल पूजा ठानै।
सत्य सनेह इष्ट अंग लावै, अस्थल अस्थल खेलै
जो कुछ मिलै आन आखत सों, सुत दारा सिर मेलै।
हरिजन हरिहि और ना जानै, तजै आन तन त्यागी
कहै रैदास सोइ जन निर्मल, निस दिन जो अनुरागी।

सच्ची ईश्वरभक्ति जब प्राप्त होती है तो सांसारिक मान-बड़ाई, यश-अपयश स्वत: ही छूट जाते हैं। बाहर के दिखावे की सारी क्रियाएँ यथा नृत्य, गायन तथा अनेक प्रकार के तप भी महत्त्वहीन हो जाते हैं। परमतत्व का साक्षात्कार नहीं हुआ तो मूर्ति के चरण धोकर चरणामृत लेना भी कुछ प्राप्ति नहीं करा सकता। सिर मुड़ाने, अनेक तीर्थों का भ्रमण तथा व्रत करने से भी ईश्वर नहीं मिलते। स्वामी, दास, भक्त और सेवक जैसी पदवी प्राप्त करने वाले भी जब तक वास्तविक परम तत्त्व को नहीं पहचानते, तब तक भ्रम में ही जीते हैं। सन्त रविदास जी कहते हैं कि सच्चे परमात्मा की वास्तविक भक्ति का घर अत्यन्त दूर है, वह घर उसी व्यक्ति को मिलता है, जिसके बड़े भाग्य अर्थात् शुभ कर्म संचित हैं। संसाररूपी रेत में परमात्मारूपी परम तत्त्व विद्यमान है। आपा मिटाकर स्थूल और सूक्ष्म माया – अहंकार त्यागकर जैसे चींटी सूक्ष्म भाव से रेत में मिली चीनी के कण चुन-चुनकर खाती है, ठीक वैसे ही अति सूक्ष्म भाव और निर्मल विवेक से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।

भगति ऐसी सुनहु रे भाई,
आई भगति तब गई बड़ाई।
कहा भयो नाचे अरु गाए, कहा भयो तप कीन्हे
कहा भयो जे चरण पखारे, जौं जों तत्त्व न चीन्हे।
कहा भयो जे मूँड़ मुड़ायो, कहा तीरथ व्रत कीन्हे
स्वामी दास भगत अरु सेवक, परम तत्त्व नहीं चीन्हे।
कहै रैदास तेरी भगति दूरि है, भाग बड़े सो पावै।
तजि अभिमान मेटि आपा पर पिपलक ह्वै चुनि खावै।

वे और भी कहते हैं – अब मैंने कुछ भक्ति के रहस्य पर विचार किया है। इस सृष्टि, जीवन और जगत् में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ईश्वर के बिना कोई भी अपना नहीं है जो, दुख, पाप और शंका को मिटा सके। मैं तो कीचड़ हूँ, ईश्वर अमृत जल है, जिसके स्पर्श मात्र से कीचड़ भी अमृत में बदल जाता है अर्थात् शुद्ध रूप धारण कर लेता है। अनेक प्रकार के कर्मों के भ्रम से यह संसार बँधा हुआ है, इस बन्धन से तुम्हारे बिना कोई नहीं छुड़ा सकता। अनेक विधि से किए गए जप, तप, पाप और पुण्य भी माया के ही स्थूल और सूक्ष्म रूप हैं, जिनमें अहं भाव विद्यमान रहता है। हे प्रभो, माया के भ्रम से मेरे तन-मन की गति आपके विमुख है और मैं जन्म जन्म से ठगा गया हूँ। मैंने अपने मन को अनेक विधि से – मारकर, काटकर, रक्षा करके और शोकग्रस्त होकर परमार्थ में लगाने के अनेक उपाय किये हैं, परन्तु कुछ प्राप्त नहीं हुआ। जिस प्रकार नौसादर से माँजने पर सोना चमक उठता है, उसी प्रकार मेरा मन इस कलियुग में काल के बस है, आपके स्पर्श के बिना अब कोई उपाय मुझे नहीं दीखता। संसार रूपी सागर में

सारे जीव भयभीत हैं, दुख में डूब रहे हैं, इससे उबरने के लिए हे प्रभो, बस, मुझे आपका ही सहारा शेष बचा है –

अब कुछ मरम बिचारा हो हरि ।
आदि अन्त अवसान राम बिन,
कोई न करै निवारा हो हरि ।
जब मैं पंक, पंक अमृत जल,
जलहि सुद्ध होई जैसे ।
ऐसे करम भरम जग बांध्यो,
छूटे तुम बिन कैसे हो हरि ।
जप तप विधि निषेध नाम करूँ,
पाप पुन्न दोउ माया ।
ऐसे मोहि तन मन गति विमुख,
जनम जनम डहकाया हो हरि ।
ताड़न छेदन त्रायन खेदन,
बहु विधि कर ले उपाई ।
लोनखंडी संजोग बिना जस,
कनक कलंक न जाई हो हरि ।
मन रैदास कठिन कलि के बल,
कहा उपाय अब कीजै ।
भव बूड़त भयभीत जगत जन,
करि अवलंबन दीजे हो हरि ।

वे कहते हैं – हे ईश्वर, आप तो दीनों के नाथ हैं, परम दयालु हैं। आप प्रकट क्यों नहीं होते। जन्म से ही मेरी आपसे बिगड़ी हुई है। यह मुझे विद्वानों से ज्ञात हुआ है, मेरा परिवार भी मुझे अपने से विमुख लगता है, मुझे कुछ समझ में नही आता। संसार की नींद से जागने अर्थात् ज्ञान होने पर यह समझ में आता है कि यह मृत्युलोक विदेश है। जीव अपने निज घर से बिछुड़कर यहाँ दुख भोग रहा है, जहाँ पर काल हर समय जीव के पीछे लगा हुआ है और यमराज का कठोर बन्धन भी बँधा हुआ हर समय दुख दे रहा है। मैं आपसे विमुख हूँ। आपके भरोसे कब तक रहा जा सकता है अर्थात् ऐसे में आप भी कब तक मेरी सँभाल करेंगे। मैंने तो आपको अपना दु:ख कह दिया है। न कहूँ तो मेरा दोष है। जो मैं कह रहा हूँ, तो ऐसा नहीं कि आप मेरा दुख जानते नहीं हैं, आप सर्वज्ञ हैं, आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। अपने पुत्र की चिन्ता पिता को, सेवक की चिन्ता उसके स्वामी को और परमात्मा रूपी पिता को जीव की अर्थात् मेरी चिन्ता स्वयं ही है। यह स्वाभाविक है। सन्त रविदास हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि हे स्वामी, तुम मेरे दोषों को क्षमा कर दो, उन पर विचार न करो। मेरे पूर्वजन्म के कर्म शुभ नहीं हैं, परन्तु अब इस जन्म में तो मैं अपने समस्त कर्मों, तन-मन और वचन से आप पर बलिहारी जाता हूँ। अबकी बार कोई कसर नहीं छोड़ूँगा –

नर हरि प्रगटसि ना हो प्रगटसि ना हो ।
दीनानाथ दयाल नर हरे ।।
जनमेउँ तौ ही ते बिगरान,
अहो कछु बुझे बहुरि सयान ।
परिवार विमुख मोहि लागि,
कछू समुझि परत नहिं जागि ।
यह भौ विदेस कलिकाल,
अहो मैं आइ परयो जमजाल ।
कबहुक तौर भरोस,
जो मैं न कहुँ तो मोर दोस ।
अस कहिए तेउ न जान,
अहो प्रभु तुम सरवस में सयान ।
सुत सेवक सदा असोच,
ठाकुर पितहिं सब सोच ।
रैदास बिनवै कर जोरि,
अहो स्वामी तुम मोहिं न खोरि ।
सु तौ पुरबला अकरम मोर,
बलि जाऊँ करौ जिन कोर ।

वे कहते हैं – हे परमात्मा, मेरे मन को आपके दर्शन की प्यास लगी है। आप मेरे अत्यन्त निकट होते हुए और प्रत्येक जीव के अन्तर वास करते हुए भी मुझे प्राप्त नहीं हुए। मेरा मन निश्चय ही अभागा है। चातक-पपीहे के पास तालाब में पानी उपलब्ध होते हुए भी वह उसे ग्रहण नहीं करता, उसे तो स्वाति नक्षत्र में होनेवाली वर्षा की बूँदों की ही आस रहती है, जिसके बिना उसकी प्यास नहीं बुझती। मेरी दशा बड़ी विकट है। मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ, लेकिन चित्त ने दूरी बना रखी है। तब प्राप्ति कैसे हो। चित्त की चंचलता के कारण मेरा मन स्थिर नहीं है। वह उस अपंग के समान शक्तिहीन है, जो वृक्ष पर लगा मीठा फल पाने की इच्छा रखता है। क्या उसकी यह इच्छा पूरी हो सकेगी? यह विचारणीय है। रविदास कहते हैं, यह अकथ, कथन से परे का अगम ज्ञान है, मैंने सुना है कि इसका निरूपण उपनिषद् में हुआ है। हे ईश्वर, जैसा तू है, तू ही स्वयं को जानता है। कहने-सुनने, देखने-विचारने की सारी दृश्य-अदृश्य वस्तुओं से तेरी उपमा नहीं दी जा सकती –

त्यों तुम कारन केसवे, लालच जिव लागा ।
निकट नाथ प्रापत नहीं, मन और अभागा ।
सागर सलिल सरोदिका, जल थल अधिकाई ।
स्वाति बूँद की आस है, पिउ प्यास न जाई ।
जौं रे सनेही चाहिए, चित्त बहु दूरि ।
पंगुल फल न पहुँच ही, कछु साध न पूरी ।
कह रैदास अकथ कथा, उपनिषद सुनीजै ।
जस तूं तस तूं तस तू ही, कस उपमा दीजै ।

वे कहते हैं – इस भवसागर का दुख अपार है। इस दुख के कारण मनुष्य की बुद्धि जन्म-जन्मान्तर तक भ्रमित रहती है। उसे सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। ईश्वर का ज्ञान अगम है, उसका घर भी अगम है, कोई भी उस ज्ञान का पक्का भरोसा

नहीं दिलाता – न बोलकर, न समझाकर। ऐसे में क्या किया जाय। भक्ति रूपी सीढ़ी पर सच्चे सन्त ही चढ़कर भवसागर से पार चले जाते हैं। जीवन्मुक्त अखण्ड आनन्द में लीन हो जाते हैं। मुझे भी उसमें चढ़ा दो न ! मैं तो अपने दुष्कर्मों की खूब भारी लोहे की नाव पर सवार हूँ। न मेरे हृदय में भक्ति-भाव है, न ही मुझसे कोई सत्कर्म हुआ है, अत: यह लोहे की भारी-भरकम नाव निश्चय ही डूबेगी। मेरे हृदय में लोभ की तरंगें उठती हैं। सांसारिक मोह ही बन्धन का कारण और काल है। मछली के प्राकृतिक स्वभाव के समान मेरा मन संसाररूपी तृष्णा-जल में ही लीन है। हे दीनानाथ ! मेरी विनती सुनिए। अब क्यों देर कर रहे हैं? मैंने बहुत दुख भोग लिये, अब मुझे इस दुख से छुटकारा दिलाइए। सन्त रविदास कहते हैं कि हे ईश्वर, मैं तो तेरे भक्तों, सन्तों के चरणों का भी दास हूँ। अब अविलम्ब मुझे भवसागर से पार लगा दीजिए –

गोबिंद भवजल व्याधि अपारा ।
ता मैं सूझै वार न पारा ।।
अगम घर दूर उरतर बोलि भरोस न देहू ।
तेरी भगति अरोहन संत मोहि चढ़ाइ न लेहू ।
लोहे की नाव पखान बोझी, सुकिरित भाव विहीना ।
लोभ तरंग मोह भयो काला, मीन भयो मन लीना ।
दीनानाथ सुनहु मम विनती, कवने हेत विलंब करीजै ।
रैदास दास संत चरनन, मोहि अब अवलंबन दीजै ।

वे कहते हैं – मानव सांसारिक सुखों से भ्रमित होकर काल के मुख में पड़ा है; उनकी चमक में मोहित है। संसार की असार वस्तुएँ त्यागने और राम-नाम में लीन होने में ही परम सुख है। मन की चंचलता मनुष्य के धैर्य को नष्ट कर देती है। धैर्य-नाश होने पर क्रोध पैदा होता है। कामरूपी सर्प का विष उतारने का मंत्र ज्ञात नहीं है। काम-ज्वाला इतनी प्रचण्ड और व्यापक है कि इसका कोई पार नहीं मिलता। काम के स्वभाव से जीव का बचना अति कठिन है। सांसारिक विषय वासनाओं की सेना, मन में उठनेवाली आशा-तृष्णाएँ मनुष्य का ज्ञान हर लेती हैं। यह विषम विश्व कामरूपी सर्प से व्याकुल है, क्योंकि वह विषय-वासनाओं से बँधा हुआ है। कामरूपी सर्प के विष को उतारने का गरुड़-मंत्र अर्थात् गुरु के द्वारा दिया गया 'नाम' ही विषय-वासना में सोये जीवों को जगाने में समर्थ है। सारे शास्त्रों में जो सत्य विद्यमान है, उसे सब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण करते हैं। परम तत्त्व के जानकार कहते हैं कि ब्रह्मर्षि नारद, शम्भु और सनकादिक मुनि राम-नाम सुमिरन में रमकर ही भावसागर के पार गए हैं। यज्ञ करना और कराना, तीर्थ-भ्रमण, दान करना और बिना समझे-बूझे जप करना, जो संसार के दुख दूर करने की औषधि मानी जाती है, वस्तुत: यही सांसारिक रोग की जड़ है। जैसे नागदमन के पौधे लगाने से उस स्थान से सर्प भाग जाता है, ठीक उसी प्रकार राम-नाम का सच्चा सुमिरन कामरूपी सर्प को भगाता है। रविदास जी कहते हैं – हे मनुष्यो ! अब तुम चेत जाओ और नियमपूर्वक प्रभु का नाम-स्मरण करो –

कहाँ सूते मुग्ध नर काल के मंझ मुख ।
तजिय वस्तु राम चिपवत अनेक सुख ।।
असहज धीरज लोप कृस्न उधरंत कोप
मदन भुजंग नहिं मंत्र जंता ।
विषम पावक ज्वाल ताहि वार न पार
लोभ की अयनी ज्ञान हंता ।।१।।
विषम संसार व्याल व्याकुल
मोहगुन विषै संग बंधभूता ।
टेरि सुन गारूड़ी मंत्र स्रवना दियो,
जागि रे राम कहि कहि के सूता ।।२।।
सकल सिम्रित जिती सत मति कहै तिती,
हैं इनही परम गति परम बेता ।
ब्रह्म ऋषि नारद संभु सनकादिक,
राम राम रमत गए पार तेता ।।३।।
जजन जाजन जाप रटन तीरथ दान
ओषधि रसिक गदमूल देता ।
नागदवनि जरजरी राम सुमिरन बरी,
भनत रैदास चेत निमेता ।।४।।

विषय-वासना को त्यागकर ही आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। मन की चंचलता के कारण आशा और तृष्णा सदैव मनुष्य को भटकाती हैं। यही भटकाव दुखों का मूल है। अनेकविध कर्मकाण्ड को छोड़कर 'सहजयोग' के 'नाम-सुमिरन' से ही जीव की मुक्ति होती है। सुमिरन में भी जब तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष आशा-दोष है, तो वह भक्ति नहीं बल्कि सांसारिकता है। इससे बचना है। किसी भी परम धाम को प्राप्त हुए जीवन्मुक्त सन्त के जीवन को देख लीजिए – सभी ने निष्काम, निरिच्छा, निर्विकल्प सहज साधना को ही स्वीकार किया है। सन्त रविदास ने भी इसी प्राचीन भक्ति-परम्परा को आत्मसात करके जीव-कल्याण का मार्ग अपनाया है। यही सनातन और शाश्वत सत्य उनकी वाणियों में दिखाई देता है। ❑❑❑

जीवन : एक अनवरत यात्रा

दुर्गाप्रसाद झाला, शाजापुर

जीवन एक अनवरत यात्रा है – 'अनवरत यात्रा' इसलिए, क्योंकि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। जीवन मृत्यु के परे भी, मृत्यु के बाद भी - अस्तित्वशील रहता है, निश्चित ही परिवर्तन की सातत्यता के साथ, हर क्षण अपने को बदलते हुऐ, अतएव वह अनन्त है। आध्यात्मिक क्षेत्र में जिसे आत्मा की संज्ञा दी जाती है, वह जीवन के अतिरिक्त और क्या है? आत्मा के बारे में गीता कहती है –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा-भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। २/२०

– "यह आत्मा न कभी जन्मती है और न मरती है। यह उत्पन्न होकर फिर होने वाली नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहनेवाली, शाश्वत और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती।"

स्पष्ट है, जीवन की सत्ता अमिट है। अनश्वर है। अनादि है, अनंत है। भौतिक दृष्टि से भी इसे नकारा नहीं जा सकता। जीवन के आधारभूत मूल तत्व कहाँ विनष्ट होते हैं? रूपान्तरित मात्र होते रहते हैं। अणु विराट् में और विराट् अणु में समाहित होते रहते हैं। अरविन्द जिसे आरोहण और अवरोहण की प्रकिया मानते हैं, वह इसके अलावा और क्या है?

मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा भय माना जाता है। लेकिन जीवन के इस चिरन्तन सत्य को जानने के बाद 'भय' कहाँ? इसलिए भारतीय संस्कृति की तो स्पष्ट और निर्भ्रान्त घोषणा है – मा भैः ! मा भैः !! (डरो मत। डरो मत।)

हमारी जीवन-यात्रा भी जब जीवन के इस चिरन्तन सत्य और सन्देश को आत्मसात कर गतिशील होगी, तो निश्चित ही गन्तव्य को पाने की दृढ़ता अधिक प्रबल होगी और उसके सपने अधिक आत्मविश्वास से सत्य का रूप पाने की कोशिश करेंगे। जीवन का सबसे बड़ा और भयानक अवरोध है – मृत्यु। जब यह 'मृत्यु-भय' ही निर्मूल हो जाता है, तो जीवन-यात्रा का अधिक सुगम, अधिक सार्थक और रसावेग से परिपूर्ण हो जाना अवश्यम्भावी है। माना, इसके अलावा भी जीवन-यात्रा में अनेक अवरोध आते हैं। कभी चरम पराजय के क्षण भी आते हैं, कभी नदी बिलकुल पास से गुजर जाती है और हम प्यासे ही रह जाते हैं। लेकिन इसी को तो जीवन-चक्र या सृष्टि-चक्र कहते हैं। यही ऋतु-चक्र है। जब सारे अवरोधों और चुनौतियों का सामना करते हुए, उनसे लड़ते-झगड़ते हुए, अपने गन्तव्य को कभी अपनी आँखों से ओझल न करते हुए और पराजय से भी हँसी-दिल्लगी करते हुए अपनी संकल्प-यात्रा को जारी रखा जाता है, तभी तो जीवन-यात्रा को अपना सही अर्थ मिलता है –

क्या हार में, क्या जीत में
किंचित् नहीं भयभीत मैं
संघर्ष -पथ पर जो मिले,
यह भी सही, वह भी सही
वरदान माँगूगा नहीं !

– डॉ. शिवमंगल सिंह **'सुमन'**

आइए, हम भी अभय के मंत्र को अपने प्राणों में बसाये जीवन-यात्रा को सम्पन्न करें। **चरैवेति-चरैवेति** – चलते रहना है, चलते रहना है। यह यात्रा होगी 'स्व' से 'विराट्' की ओर, 'अल्प' से 'भूमा' की ओर, 'व्यष्टि' से 'समष्टि' की ओर –

भूमा वै सुखम् । नाल्पे सुखमस्ति ।

संक्षेप में, हमें हमेशा याद रखना है –

(क) जीवन-यात्रा अनादि है, अनन्त है।

(ख) अभय इस जीवन-यात्रा का मूल मंत्र है।

(ग) जीवन-यात्रा अनवरत संघर्ष है, उससे पलायन नहीं करना है।

(घ) जीवन-यात्रा की गति-दिशा हो – 'स्व' से 'विराट्' की ओर, 'अल्प' से 'भूमा' की ओर – प्रकारान्तर से 'व्यष्टि' से 'समष्टि' की ओर।

अन्त में, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में यह सन्देश सुनिए – "जीना चाहते हो? कठोर पाषाण को भेदकर, पाताल की छाती को चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो; वायु-मण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो; आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरों में झूमकर उल्लास खींच लो।" ❑❑❑

चरित्र-निर्माण का महत्व

स्वामी आत्मानन्द

अंग्रेजी में एक कहावत है – "If wealth is lost, nothing is lost, if health is lost, Something is lost, if character is lost, everything is lost." – ''यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता, यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है; पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।''

वास्तव में चरित्र ही जीवन की आधारशिला है, उसका मेरुदण्ड है। राष्ट्र की सम्पन्नता चरित्रवान लोगों की ही देन होती है। जो राष्ट्र सम्पन्न है, प्रगति के रास्ते आगे बढ़ रहा है, वहाँ के नागरिक अवश्य चारित्रिक धन से भी सम्पन्न होंगे और इसी प्रकार जहाँ के निवासी चारित्र्य से विभूषित होते हैं, वह राष्ट्र प्रगत होगा ही। ऐसा नहीं हो सकता कि राष्ट्र तो सम्पन्न है, पर वहाँ के लोगों का चरित्र गिरा हुआ है। अथवा यह भी सम्भव नहीं कि लोग तो चरित्रवान हैं, पर राष्ट्र नीचे गिरा हुआ है। राष्ट्रोत्थान और व्यष्टि-चरित्र ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

चरित्र-निर्माण के लिए नैतिक मूल्यों पर आस्था अनिवार्य है। यदि मनुष्य विज्ञान और यांत्रिकी की दुहाई देता हुआ नैतिक मापदण्डों को उपेक्षित कर देता हो, तो भले ही वह कुछ समय के लिए प्राणवान् और प्रगत दिखायी दे, पर भीतर से वह खोखला हो जाता है। जीवन का तनिक-सा आघात उसे धराशायी कर देता है। वह मानो बालू की नींव पर खड़े सौंध की तरह होता है, जो चाहे जितना भव्य दिखे, पर जिसे प्रभंजन का एक झोंका ही भूमिसात् कर देने में पर्याप्त होता है। आज बाहर के देश भौतिक दृष्टि से जो इतने समृद्ध और प्रगतिशील दिखायी देते हैं, इसका कारण वहाँ के निवासियों का चरित्र-बल रहा है। आज वहाँ के लोगों में भी चारित्रिक दुर्बलताएँ प्रविष्ट हो गयी हैं और यही कारण है कि वे सारे देश 'मैं-सर्वस्व' विचारधारा के थपेड़ों से लड़खड़ा रहे हैं।

चरित्र की जड़ों को सुखानेवाला सबसे प्रबल तत्त्व है स्वार्थ। स्वार्थ की भावना ही 'मैं-सर्वस्व' विचारधारा की उत्स है। जहाँ व्यक्ति केवल अपने लिए जीता है, वहाँ किसी प्रकार के नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। नैतिक मूल्य रूपी जल के सिंचन से ही चरित्र का पौधा लहलहाता है। नैतिकता का सरल अर्थ है – **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** – 'अपने ही समान सभी को जानना।' यह समझना कि जिसमें मुझे सुख होता है, वह सबको भी सुख देता है और जिससे मुझे पीड़ा होती है, वही सबकी भी पीड़ा का कारण होता है। ऐसी वृत्ति को भारत में धर्म की वृत्ति कहा गया। धर्म की सरल और सर्वग्राह्य व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास कहते हैं –

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेद् आत्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

– ''धर्म का सार-सर्वस्व सब लोग सुनें और सुनकर उसकी धारण करें, व्यवहार में उतारने की चेष्टा करें। जो कर्म अपने आप के लिए दुखदायी हों, उन कर्मों को हम दूसरों के प्रति न करें। आत्मा का प्रिय-अप्रिय जाननेवाले व्यक्ति को चाहिए कि दूसरों के द्वारा अपने प्रति किया गया जो कार्य उसे अच्छा न लगे, वह कार्य वह स्वय दूसरों के प्रति कभी न करे।''

स्वामी विवेकानन्द की, जिनकी ११२ वीं जन्मतिथि आज विश्व में सर्वत्र मनायी जा रही है, 'नीतिसगत' और 'नीतिविरुद्ध' की परिभाषा करते हुए कहते हैं – ''जो स्वार्थपर है, वह 'नीतिविरुद्ध' है और जो निःस्वार्थपर है, वह 'नीति-संगत' है। वे एक स्थान पर कहते हैं – चरित्रवान् व्यक्ति ही वास्तव में आनन्द का अधिकारी होता है, और चरित्रवान् वह है, जिसने अपने स्वार्थ को अकुश में रखा है। नीतिशास्त्र इसी निःस्वार्थता का पाठ पढ़ाता है। वह कहता है – 'मैं नहीं, तू'। इसका उद्देश्य है – 'स्व नहीं, निःस्व'। तुम्हें दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वय को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं – 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है, 'अपने को सबसे अन्त में रखो'। इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं।

और वास्तव में जब हम भौतिक स्तर पर अपने स्वार्थ का हनन करते हैं, तभी चरित्र का निर्माण होता है। किन्तु स्वार्थ के तंग दायरे से सहज ही तो नहीं उठा जा सकता। जब तक हमारे सामने कोई उच्चतर लक्ष्य न हो, हम संसार की इस स्वार्थपूर्ण चकाचौंध से ऊपर नहीं उठ सकते। भौतिकवादी कहता है कि 'उपयोगितावाद' को ही उच्चतर लक्ष्य क्यों नहीं रख लेते? 'उपयोगितावाद' का अर्थ है – 'अधिकतम मनुष्यों का अधिकतम सुख'। पर इस 'वाद' में एक कठिनाई यह है कि जब मनुष्य के अपने सुख का प्रश्न आता है, तो वह अन्य सबके सुखों की उपेक्षा कर देता है। स्वार्थ की परिधि से ऊपर

उठने में उपयोगितावाद का सिद्धान्त सहायक नहीं हो सकता और इस प्रकार वह चरित्र-निर्माण का आधार नहीं बन सकता। विवेकानन्द कहते हैं – "उपयोगितावाद मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं कर सकता; क्योंकि पहली बात तो यह है कि उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते। ... उपयोगितावादी हमसे 'असीम' – अतीन्द्रिय गन्तव्य-स्थल – के प्रति संघर्ष का त्याग चाहते हैं, क्योंकि अतीन्द्रियता अव्यावहारिक है, निरर्थक है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि नैतिक नियमों का पालन करो, समाज का कल्याण करो। आखिर हम क्यों किसी का कल्याण करें? भलाई करने की बात तो गौण है, मुख्य है – एक आदर्श। नीतिशास्त्र स्वयं साध्य नहीं है, प्रस्तुत साध्य को पाने का साधन है। यदि कोई उद्देश्य न हो, तो हम नैतिक क्यों बनें? हम क्यों दूसरों की भलाई करें? क्यों लोगों को हम सतायें नहीं? अगर सुख ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, तो क्यों न मैं दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी स्वयं सुखी रहूँ? ऐसा करने से मुझे रोकता कौन है? दूसरी बात यह है कि उपयोगितावाद का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। ... उपयोगितावाद का सिद्धान्त समाज की वर्तमान स्थिति में तो काम कर सकता है, पर इसके आगे इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। किन्तु धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है। वह व्यक्ति को लेता है, पर उसका सम्बन्ध असीम है। वह समाज को भी लेता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वार्थ का संकोच ऐसे नैतिक सिद्धान्तों द्वारा ही सम्भव है, जो धर्म और अध्यात्म पर आधारित हों। ऐसे सिद्धान्त ही मनुष्य के छिपे चारित्रिक गुणों को प्रकट करते हैं, जबकि स्वार्थपरता इन गुणों को और भी दबा देती है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द स्वार्थपरता को ही 'पाप' कहते हैं। वे कहते हैं – "स्वार्थपरता ही अर्थात् स्वयं के सम्बन्ध में पहले सोचना ही सबसे बड़ा पाप है। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि मैं पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ, मेरी ही सबसे पहले मुक्ति हो जाय तथा मैं ही औरों से पहले सीधा स्वर्ग को चला जाऊँ, वह निश्चय ही स्वार्थी है। निःस्वार्थ व्यक्ति तो यह कहता है, 'मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी कोई आकांक्षा नहीं है, यदि मेरे नरक में जाने से भी किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।' यह निस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी अधिक निःस्वार्थता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है और शिवजी के उतने ही समीप है।"

इस प्रकार स्वामीजी चरित्र-निर्माण इसमें देखते हैं कि व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ का त्याग करने का अभ्यास करें और शिव को मन्दिर में देखने के बदले जीव में देखकर उसकी सेवा का पाठ सीखे। वे कहते हैं – "**सारी उपासना का सार है – पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना।** जो शिव को दीन-हीन, दुर्बल और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है, और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना मात्र प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, वर्ग या सम्प्रदाय का विचार किए, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।"

स्वामीजी के अनुसार चरित्र-निर्माण के लिए तीन बातों की आवश्यकता है – अनुभव करने के लिए हृदय की, कल्पना करने के लिए मस्तिष्क की और काम करने के लिए हाथ की। वे भारत के नवयुवकों को इन्हीं तीन बातों से युक्त देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में चरित्रहीनता ही राष्ट्र की मृत्यु का कारण थी। वे पूछते हैं, "क्या तुमने नहीं पढ़ा है कि **देश की मृत्यु का चिह्न अपवित्रता या चरित्रहीनता के भीतर से होकर आया है?** जब यह चारित्र्य-दोष किसी देश में प्रवेश कर जाता है, तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया है।" यही कारण है कि स्वामीजी अन्त तक चारित्रिक दृढ़ता और बल का ही पाठ पढ़ाते रहे; कहते रहे कि 'बल ही जीवन है और दुर्बलता मृत्यु'। वे हमें 'मनुष्य' बनने का पाठ पढ़ाते रहे, क्योंकि वास्तव में वही चरित्र-निर्माण की कुंजी है। कापुरुष कभी चरित्रवान् नहीं हो सकता। स्वामीजी की वाणी आज भी हमें अनुप्राणित करती हुई कहती है –

"हम काफी रो चुके, अब और रोने की आवश्यकता नहीं। **अब अपने पैरों पर खड़े होओ और 'मनुष्य' बनो। हम 'मनुष्य' बनानेवाला धर्म ही चाहते हैं। हम 'मनुष्य' बनानेवाले सिद्धान्त ही चाहते हैं।** हम सर्वत्र सभी क्षेत्रों में 'मनुष्य' बनानेवाली शिक्षा ही चाहते हैं। और यह रही सत्य की कसौटी – जो कुछ तुम्हें शरीर से, बुद्धि से या आत्मा से कमजोर बनाये, उसे विष की भाँति त्याग दो, उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, पवित्रता-स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है, जो शक्ति दे, जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे, जो हृदय में स्फूर्ति भर दे।" और यह सत्य ही चरित्र-निर्माण का वास्तविक एवं स्थायी आधार है। ❑❑❑

अगर बने हम

अजय प्रताप सिंह

बनें अगर तो फूल बनें हम,
आकर्षक तन पाएँ !
अच्छे कार्यो की सुवास से,
वसुन्धरा महकाएँ ।

जलें अगर तो दीपक बनकर
तम को दूर भगायें !
ज्योतिर्मय करके जीवन,
हम सुयस जगत में पाएँ !

सरिता बनकर बहें सतत,
जन-जन की तृषा बुझाएँ ।
आजीवन करके परहित,
सागर में घुल-मिल जाएँ !

बनें दयालु बादलों जैसे,
त्याग अमर कर जाएँ ।
अपनी काया पिघलाकर,
धरती की तृषा बुझाएँ ।

हिमगिरि जैसे धीर बनें,
हर बाधा से लड़ जाएँ !
चाहे जितना कष्ट मिले,
हम कभी नहीं घबराएँ !

ईश ! हमें दो ज्ञान कभी,
हम राह भटक ना जाएँ !
सत्पथ पर चलकर आजीवन,
जन्म सफल कर जाएँ !

आओ गीत मिलन के गायें

रघुवीरसिंह सेंगर, गुरसराय

निर्माणों का यह नवयुग है
कीर्तिध्वजा जग में फहराएँ ।
त्याग मोह-मद और ईर्ष्या,
गीत मिलन का हम सब गाएँ ।।

जातिवाद का जहर देश में
फैल रहा है अति दुखदाई,
जगह जगह भाषा-विवाद भी
लेता रह-रहकर अँगड़ाई,

सेंक रहे सब अपनी रोटी
सम्प्रदाय के गर्म तवे पर,
क्षेत्रवाद का धुआँ उड़ रहा
आँखों में भर दी करुणाई ।
एक ध्वजा के नीचे जुटकर
आओ इनकी चिता जलाएँ ।।
निर्माणों का यह नवयुग है
कीर्तिध्वजा जग में फहराएँ ।।

पीट रहे हो ढोल धर्म का,
मर्म धर्म का तुम क्या जानो,
शब्द-कीर्तन भजन राम का
आजानों को भी पहचानो,
तभी हृदय में जाग्रत होगी
धर्म-कर्म की चिर परिभाषा
सब धर्मों का आदर करना,
भारत की रग रग में जानो
मिल करके हम साथ चलें सब
हृदय-कलुषता दूर भगाएँ ।।
निर्माणों का यह नवयुग है
कीर्तिध्वजा जग में फहराएँ ।।

पीड़ित मानव की पीड़ा को
मानव ही हर सकता है,
शुद्ध भाव हों जिसके मन में
करुणा वह भर सकता है,
धन-पद-लोलुप मानव भी
क्या नव इतिहास रचायेगा?
वह पल-छिन स्वार्थ-मोह की
ही क्रीड़ा कर सकता है
अहं भाव को त्याग, सभी मिल,
राग-द्वेष को दूर भगाएँ ।।
निर्माणों का यह नवयुग है
कीर्तिध्वजा जग में फहराएँ ।।

स्वारथ-पद-लोलुप अन्धों ने
भारत को वर्गों में बाँटा
आरक्षण के टुकड़े देकर
भाई को भाई से काटा,
स्वारथ मूलमंत्र है इनका,
इनको सब मिलकर पहचानें
वर्ना देश भिखारी होगा
और सभी का होगा घाटा,
आओ इनके कलुषित भावों की
हम मिलकर होलिका जलाएँ ।।
निर्माणों का यह नवयुग है
कीर्तिध्वजा जग में फहराएँ ।।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(पत्रों से संकलित)

१९/४/१९२०

मन का संशय पत्र या पुस्तक पढ़कर दूर नहीं होता – परिश्रम करना पड़ता है। यथाशास्त्र या यथोपदेश कार्य करते-करते हृदय में श्रद्धा का उदय होने पर क्रमश: चित्त शुद्ध हो जाता है और तभी संशय का नाश होता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।।

– "अत: हृदय में अज्ञान से उत्पन्न हुए इस संशय को आत्म-ज्ञान-रूपी तलवार से काटकर, हे अर्जुन! तुम उठो और कर्मयोग में लग जाओ।" (गीता ४/४२)

यही बात भगवान अर्जुन से भी कहते है – उठकर योग करो अर्थात् शास्त्रविधि का पालन करो। ज्ञान रूपी तलवार से संशय का छेदन करना चाहिए, यह केवल उपदेश से नहीं होता – कर्म करना पड़ता है और करते करते सब ठीक हो जाता है। "हरि से लागि रहो रे भाई, तेरी बनत बनत बनि जाई" – यही असल बात है। लगे रहना होगा। चाहे जिसकी भी उपासना करो, उसका फल मिलेगा। उपास्य में ब्रह्मबुद्धि लानी पड़ती है – "माँ, उपासना-भेद से तुम पाँच मूर्तियाँ धारण करती हो; परन्तु जिसने पाँचों को तोड़कर एक कर दिया है, उसके हाथ से भला तुम कैसे बच सकती हो?"[१] "काली और ब्रह्म (के एकत्व) का मर्म जानकर मैने धर्म-अधर्म आदि सबका त्याग कर दिया है। रामप्रसाद कहते हैं कि मैं मातृभाव से जिस तत्त्व की उपासना करता हूँ, उसके विषय में क्या मैं खुले आम चर्चा करूँ? मन, तू इशारे से ही समझ ले न!"[१] इसी प्रकार सभी ने अपने अपने इष्ट में निष्ठा दिखायी है, परन्तु ठाकुर इस बात के लिए विशेष रूप से सावधान कर गए हैं कि निष्ठा के नाम पर कहीं पागलपन न हो। जिस-तिस की बात सुनना उचित नहीं। अपने गुरु के निर्देशानुसार कार्य किए जाना होगा, तभी कार्यसिद्धि होगी। पूरे मनोयोग से अपने पथ पर चलना होगा। किसने क्या कहा, या किधर क्या है, यह सुनने-देखने में हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ भी नहीं।

ठाकुर कहा करते थे – "ग्रन्थ या ग्रन्थि?" सब कुछ छोड़कर '**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन** – हे अर्जुन, इस मार्ग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही है।' इसी को सार करना होगा। मुक्त होने के बाद भी कोई-कोई प्रभु के लीलासहचर होकर जन्म लिया करते हैं, उन्हें नित्यमुक्त कहते हैं। भागवत (१/७/१०) में उन्हीं के बारे में कहा है –

आत्मारामश्च मुनयो निर्गन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ।।

– ऐसे मुनिगण, जिनकी अविद्या की गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मा में ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान की अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

खूब चिन्तनशील होना और स्वयं सारी बातों पर विचार करके सिद्धान्त निश्चित करने का प्रयास करना।

२/५/१९२०

शरीर स्वस्थ रहे, नहीं तो कोई काम नहीं होगा। दीक्षा तो लेनी ही पड़ती है। पर मैंने कभी नहीं दी है और दूँगा भी नहीं। अत: इस विषय में तुम्हें कहीं और प्रयास करना होगा। मेरी समझ में जो आता है, तदनुसार यथासाध्य उपदेश देता हूँ – बस इतना ही। मंत्रादि देना मुझसे न हुआ है, न होगा। सीधी सी बात स्पष्ट रूप से कह देना ही उचित है। भगवान अन्तर्यामी हैं। श्रद्धा हो, तो वे तुम्हारी इच्छनुसार सब व्यवस्था कर देते हैं। मेरा इस बात में पूर्ण विश्वास है। मेरी प्रार्थना है कि वे तुम्हारी दीक्षा-ग्रहण की हार्दिक कामना को पूर्ण करें।

६/५/१९२०

सभी चीजें अभ्यास के द्वारा सीखनी पड़ती हैं, परन्तु मुझे लगता है कि धर्म-कर्म या चित्त-संयम के लिए अभ्यास की जरूरत तुम लोग जरा भी स्वीकार नहीं करते। दों दिन थोड़ा आँखें मूँदकर या चार दिन थोड़ा-सा जप करके तुम लोग एकदम महाध्यानी या महाभक्त बन जाना चाहते हो। बाकी सब विषयों में तुम परिश्रम करने को तैयार हो और उसके लिए प्रतीक्षा भी कर सकते हो, पर धर्म-कर्म के विषय में थोड़ी-सी भी देरी सहन नहीं होती, बिल्कुल उतावले हो जाते हो। जो भी हो, जन्म-जन्मान्तर अभ्यास करने पर कहीं थोड़ा चरित्र गठन होता है। पर तुम लोग इस बात को न समझकर तीन दिनों में ही किला फतह कर लेना चाहते हो। और क्या कहूँ!

मन को स्थिर करना क्या इतना आसान है? बिना परिश्रम के ही उसे कर लेना चाहते हो? सम्भवत: अपने पिछले पत्र में मैंने तुम्हें ये सारी बातें लिखी हैं। अब लिखने को कुछ भी नहीं बचा है। मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल भी ठीक नहीं है। तुम्हारा पत्र पढ़कर मुझे काफी कष्ट हुआ। लगता है कि अब यह सब कहने-सुनने की क्षमता मुझमें नहीं रही। यदि मेरे शरीर में पुन: बल का संचार हो, तो ऐसे पत्र का उत्तर देने का प्रयास करूँगा। मैं जो कहता हूँ, तुम यदि उस पर ध्यान न दो, तदनुरूप करने का प्रयास न करो, तो फिर मेरा कहना व्यर्थ ही तो है! सभी सकुशल हैं, यह जानकर आनन्दित हुआ। ❑

१. रामप्रसाद सेन के बँगला भजनों का भावानुवाद

वेदान्त सोसायटी, प्रॉविडेंस का प्लेटिनम-जयन्ती-उत्सव

९ सितम्बर, १९२८ को प्रॉविडेंस (अमेरिका) के प्रसिद्ध बिल्टमोर होटल में भारत से नये नये आये स्वामी अखिलानन्द जी के वेदान्त के चिरन्तन दर्शन पर व्याख्यानों की पहली शृखला का आयोजन हुआ। इस छोटी-सी शुरुआत के साथ प्रॉविडेंस की वेदान्त समिति का जन्म हुआ। अब इस वेदान्त समिति के अविच्छिन्न आध्यात्मिक कार्य के ७५ वर्ष पूरे हो गये हैं। इस घटना का स्मरण करने के लिए समिति द्वारा दो दिन के प्लैटिनम जयन्ती-उत्सव मनाने का आयोजन किया गया।

२० सितम्बर २००३ को 'व्यावहारिक वेदान्त' विषय पर एक छोटी-सी गोष्ठी के साथ कार्यक्रम का श्रीगणेश हुआ और २१ सितम्बर को प्रॉविडेंस के २२७ एंजेल स्ट्रीट में समिति-केन्द्र के दूसरी ओर स्थित रॉबर्ट ह्वीलर स्कूल हॉल में एक सर्वधर्म सभा का आयोजन किया गया। सभा के गहन आध्यात्मिक, बन्धुत्व, मैत्री एवं सच्ची शुभेच्छा से परिपूर्ण परिवेश में दुनिया की सभी जातियों, धर्मों और उनके परम्पराओं के प्रतिनिधित्व करनेवाले समिति के प्रायः २०० मित्रों तथा शुभचिन्तकों ने भाग लिया।

सम्मेलन वेदान्त समिति, प्रॉविडेंस के सद्यःनियुक्त प्रमुख स्वामी योगात्मानन्द जी के आशीर्वचन से प्रारम्भ हुआ। इसके बाद १९५४ से लेकर २००१ ई. तक सतत वेदान्त समिति, प्रॉविडेंस की सेवा करने में निरत रहे स्वामी सर्वगतानन्द जी ने संक्षिप्त, परन्तु मोहक व्याख्यान दिया। दक्षिणी कैलीफोर्निया की वेदान्त समिति के अध्यक्ष स्वामी स्वाहानन्द जी ने अनुग्रहपूर्वक इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि पद को सुशोभित किया।

डोमिनिकल रिपब्लिक के सैंटो डोमिंगो में स्थित 'हार्ट ऑफ जेसस' के फादर पॉल ने 'कृपा और ध्यान' पर एक प्रबोधक व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने प्राच्य एव पाश्चात्य दोनों दर्शनों का समन्वय करते हुए मानव की अन्तर्निहित दिव्यता और उस की खोज पर विशेष बल दिया। उन्होंने अनेक सन्तों तथा सिद्ध महापुरुषों के जीवन तथा उपदेशों पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि 'ईश्वर एक ऐसी अन्तरंग सत्ता है, जो वर्णन या सीमाकन के परे है, परन्तु शुद्ध प्रेम के द्वारा उसकी अनुभूति की जा सकती है। उन्होंने कहा, "ईश्वर कोई तितली नहीं है, जिसे आप अपनी मानसिक ऊहापोह के जाल में फँसा लेंगे। आप उसे सिद्ध नहीं करते सकते, पर उसकी अनुभूति कर सकते हैं।

स्वामी स्वाहानन्द जी ने अपने 'दैनन्दिन जीवन में वेदान्त' विषयक व्याख्यान में बताया कि निम्न श्रेणी के प्राणियों के अस्तित्व का मूल आधार प्रतिस्पर्धा, मानव के अस्तित्व का आधार सहयोग और नीति व अध्यात्म के पथ पर चलनेवालों के जीवन का वैशिष्ट्य समर्पण है।

इस अवसर पर स्वामी स्वाहानन्द जी ने अनेकों पुराने भक्तों की स्मृतियों से युक्त एक सुन्दर स्मारिका का विमोचन भी किया।

सभा के बाद समिति के द्वारा आगन्तुकों के लिए साधारण परन्तु स्वादिष्ट भोजन कराया गया। अपराह्न का सत्र सर्व-धर्म-संगीत को समर्पित था। इसमें कुल १६ प्रकार की सांगीतिक प्रस्तुतियाँ सुनायी गयीं, जिनमें शुद्ध भारतीय रागों में शास्त्रीय सगीत के साथ ही ईसाई, यहूदी, सिक्ख, वैष्णव और वेदान्तिक परम्परा के भी विभिन्न गीत थे। साथ ही सितार, तबला, बाँसुरी, हारमोनियम, पियानो पर बजाये गये कई प्रकार के सगीत ने श्रोताओं की आत्मा को आह्लादित और मन को मुग्ध कर लिया।
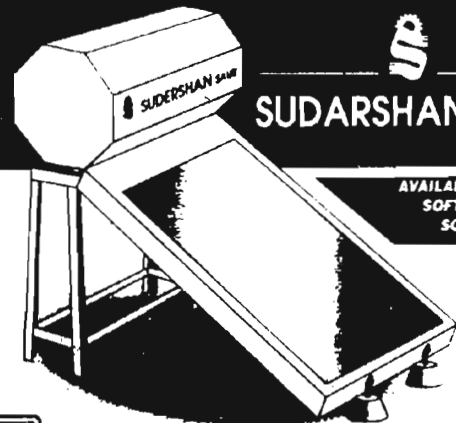
२१ सितम्बर को एक सर्वधर्म-सभा का आयोजन किया गया, जिसमें समिति के लगभग २५० मित्रों ने भाग लिया। स्वामी योगात्मानन्द जी द्वारा प्रारम्भिक स्वागत के बाद रोड आइलैंड विधानसभा के सदस्य रोडा पैरी तथा एडिथ अजेलो मंच पर आये। उन्होंने क्रमशः रोड आइलैंड राज्यसभा तथा प्रतिनिधि-सभा की ओर से समिति के प्रति सम्मान-पत्र या अभिनन्दन-पत्र पढ़कर सुनाया। उन्होंने पिछले ७५ वर्षों से समाज में सकारात्मक समन्वयवादी भूमिका निभाने के लिये समिति की प्रशसा की और भविष्य में इसकी सफलता की कामना की। स्वामी सर्वगतानन्द जी के आशीर्वचन के बाद कई धार्मिक नेताओं ने अपने अपने धर्म का 'विश्व-बन्धुत्व में योगदान' विषय में अपने विचार प्रकट किये।

गेन केलसैंग चोमा ने भगवान बुद्ध पर एक सुन्दर व्याख्यान दिया। रामकृष्ण वेदान्त समिति, बॉस्टन के अध्यक्ष स्वामी त्यागानन्द जी ने सस्कृत के प्रेरणाप्रद मन्त्रों का पाठ किया और बताया कि कैसे ये मन्त्र सार्वभौमिकता, कल्याण तथा शान्ति के सुविचार प्रस्तुत करते हैं। डॉ. साइरस मेहता और उनकेसाथियों ने पारसी धर्म की भक्तिपूर्ण प्रार्थना प्रस्तुत की। जॉन बर्नेट ने मानवीय एकता पर बल देते हुये 'सूफी ज्ञान' के सारतत्व की व्याख्या की। रब्बाई रोसेनबर्ग ने बड़े ही मनोरंजक शैली में विशेष रूप से बताया कि ईश्वर का अपनी सभी सन्तानों से 'विशेष' सम्बन्ध है। उन्होंने विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की तुलना पर्वत के नीचे स्थित विभिन्न शिविरों से की, जिनमें रहने वाले लोग विभिन्न दिशाओं से (ईश्वर-रूपी) उस एक ही पर्वत-शिखर पर पहुँचने की अभिलाषा रखते हैं। फादर गोडार्ड ने बताया कि वेदान्त दर्शन ने कैसे उनके दृष्टिकोण और चिन्तन को गहरा प्रभावित किया है। डैरेल वालड्रन ने मूल अमेरिकी लोक-परम्पराओं पर प्रकाश डाला और ज्ञान की बातें बतायीं।

स्वामी स्वाहानन्द जी ने विभिन्न वक्ताओं के विचारों को साररूप में संपुटित कर विशेष रूप से कहा कि विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों को मानवीय समानता के सामान्य आधार का निश्चित रूप से अन्वेषण करना चाहिए और केवल अपने ही सम्प्रदाय के प्रति रूढ़ी, कट्टर नहीं होना चाहिये। इससे विभाजित मानवता की सबसे बड़ी सेवा होगी। ईश्वर सर्वशक्तिमान और इतना गहन तत्त्व है कि उसे किसी एक सम्प्रदाय में रखना असम्भव है। इसीलिये मानवता की विविधता में 'जितने मत उतने पथ' जैसे सार्वजनिन धर्म का प्रस्तुत आदर्श हमारे पास होने चाहिये।

समारोह के अन्त में स्वामी योगात्मानन्द जी ने वेदान्त समिति, प्रॉविडेंस के ७५वीं वार्षिकोत्सव में उपस्थित सभी मित्रों, धर्म-प्रतिनिधियों तथा शुभेच्छुओं को धन्यवाद दिया।